विचार
चिंतन
शोध सृजन

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष : 07 अंक : 30 अक्टूबर - दिसम्बर, 2022

प्रधान-संपादक
डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक
डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक
डॉ० सुधीर कुमार तिवारी

आलोचन दृष्टि वर्ष-7 अंक-30 अक्टूबर - दिसम्बर, 2022 ISSN : 2455-4219

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष - 07 | अंक - 30 | अक्टूबर-दिसम्बर, 2022

Year - 07 | Volume - 30 | October-December, 2022

प्रधान-संपादक

डॉ. सुनील कुमार मानस

संपादक

डॉ. योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक

डॉ. सुधीर कुमार तिवारी

© **प्रकाशक :**

संपादकीय/प्रकाशकीय पता :–

सृजनश्री न्यास,

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,

उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com

मुद्रण :– जय ग्राफिक्स एण्ड कान्सट्रक्सन,
आई0टी0आई0 रोड़, फतेहपुर–212601।

सदस्यता शुल्क	एक अंक	वार्षिक	आजीवन
व्यक्तिगत	300	1200	10,000
संस्थागत	400	1500	15,000

संरक्षक एवं सलाहकार मंडल

- ❖ **प्रो. गिरीश्वर मिश्र,** शिक्षाविद् एवं पूर्व कुलपति, म. गां. अं. हिं. वि., वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- ❖ **प्रो. चितरंजन मिश्र,** पूर्व प्रोफेसर, पं. दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय (उ0प्र0)।
- ❖ **प्रो. नंदकिशोर आचार्य,** सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर, राजस्थान–252028।
- ❖ **प्रो. सदानंद गुप्त,** निदेशक, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, (उ0प्र0)।
- ❖ **प्रो. कृपाशंकर चौबे,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- ❖ **प्रो. माधवेन्द्र पाण्डेय,** हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय।
- ❖ **प्रो. प्रेमशंकर त्रिपाठी,** आशीर्वाद अपार्टमेन्ट, सी. ए. 5/10, देशबन्धु नगर, कलकत्ता।
- ❖ **प्रो. दिलीप सिंह,** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.)।
- ❖ **प्रो. आर0 एस0 सर्राजू,** हैदराबाद विश्वविद्यालय, (तेलंगाना)।
- ❖ **प्रो. उमापति दीक्षित,** केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ0प्र0)।
- ❖ **प्रो. एस0 वी0 एस0 एस0 नारायण राजू,** तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तमिलनाडु।
- ❖ **Shri. Tejendra Sharma,** Harrow & Weealdstone, Middlesex HA3 7AN (U.K.)
- ❖ **Mrs. Archana Painyuly,** Islevhusvej, 72 B, 2700, Bronshoj, Copenhagen, Denmark.

संपादक-मंडल

- ➢ **डॉ. उदयन मिश्र,** हरिश्चन्द्र पी. जी. कॉलेज, वाराणसी, (उ. प्र.)।
- ➢ **डॉ. बलराम शुक्ल,** संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- ➢ **डॉ. शशिभूषण भट्ट,** संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ. प्र.)।
- ➢ **डॉ. दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, श्री चंदशेखरेंद्र सरस्वती विश्वविद्यालय, एनात्तूर–कांचीपुरम्, तमिलनाडु।
- ➢ **डॉ. आनंद कुमार,** राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर, (उ. प्र.)।
- ➢ **डॉ. अमित दूबे,** आर्य महिला पी. जी. वाराणसी।
- ➢ **श्रीमती आकांक्षा अग्निहोत्री,** सरदार पटेल विश्वविद्यालय, बल्लभ विद्यानगर, आनंद–गुजरात।
- ➢ **डॉ. वर्षा तिवारी,** पं. शम्भूनाथ शुक्ल विश्वविद्यालय, शहडोल–(म. प्र.)।

विधि-परामर्शदाता

श्री **उमाशंकर त्रिपाठी** (एडवोकेट), सिविल कोर्ट, फतेहपुर उ0प्र0–212601।

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित शोध–लेखों एवं उसमें दिये गये उद्धरणों के वाद–विवाद संबंधी किसी भी कार्यवाही का शोधकर्ता (लेखक) स्वयं जिम्मेदार होगा। इस तरह के किसी भी विवाद में संपादक, प्रकाशक एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के किसी भी सदस्य की कोई जवाबदारी नहीं होगी। किसी भी प्रकार के विवाद–संवाद का समाधान फतेहपुर न्यायालय में ही होगा।

संपादकीय

भारतीय चिंतन–यात्रा की वैचारिकी सामूद्रिक रत्न की तरह है, जो होते तो अनंत हैं, किंतु मिलते कुछ–एक ही हैं और जो मिलते हैं, वे किस गहराई से आये हुये हैं? किस तरह से उन्हें खरांचा गया है? किस तरह से उन्हें प्रस्तुत किया गया है या किया जा रहा है? कौन कर रहा है? किस उद्देश्य के लिए कर रहा है? उसकी वैचारिक, सामाजिक एवं सांसारिक समझ क्या है?– यह सब भी देखना पड़ता है। इस आधार पर ही भारतीय चिंतन–यात्रा की वैचारिकी को हम परखते हैं और फिर उसे समय और समाज के संदर्भ में व्याख्यायित भी करते हैं। बात यहीं पर समाप्त नहीं होती बल्कि यहीं से शुरू होती है। जिसकी यात्रा से हमें और हमारे समाज को हमेशा गुजरना पड़ता है या गुजरना होता है। हमें इसके पक्ष–विपक्ष की सहमति–असहमति से भी हमेशा दो–चार होना होता है। शायद्, यही इस यात्रा की अनवरत चलने वाली वैचारिक जिरह का प्रतिफलन है, यही जीवंतता है, निरंतरता है। जहाँ यह गतिशीलता है, निरंतरता है, जीवंतता है, वहीं निर्मलता है, पवित्रता है। जहाँ यह निरंतरता, गतिशीलता नहीं है, वहीं गंदगी है, सड़न है और सड़न की बास(दुर्गन्ध) भी। हमें इस बास से बचना है।

इसी 5 नवंबर (2022) को हिंदी के प्रख्यात् एवं ख्यातिलब्ध आलोचक प्रो. मैनेजर पांडेय के लोक गमन कर जाने से, हिंदी आलोचना जगत् में एक बहुत बड़ी रिक्ति हुई है, जिसकी भरपायी कभी नहीं हो सकती। प्रो. पांडेय की आलोचनात्मक पहचान प्रगतिशील चिंतन से होती है, जिसका जुड़ाव लोक–संस्कृति एवं लोक–संपृक्ति से रहा है, किन्तु उनकी पहचान एक मार्क्सवादी विचारधारा के संवाहक के रूप में ही, उनके बाद के आलोचक करते हैं। (इसके पीछे या तो एक तरह की अनभिज्ञता है या फिर एक सोची–समझी साजिश) वे भूल जाते हैं कि प्रो. पांडेय किसी धारा–विशेष में बँधते नहीं हैं, बल्कि मानविकी की सशक्त धारा को, वे साहित्य और समाज में साधते हुए नजर आते हैं। जैसा कि सभी जानते हैं कि आजादी के बाद साहित्य एवं समाज का काफी भेद–विभेद हुआ। साहित्य को सिर्फ 'कल्पना की उड़ान' तक, एवं स्वतंत्रता के बाद का जो अवकुंठित एवं अतृप्त समाज है, उसे ही समाज का सच मानकर, दोनों विषयों में बहुत अलगाव एवं बिलगांव हुआ; लेकिन प्रो. पांडेय ने 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', 'आलोचना की सामाजिकता' जैसी पुस्तकें लिखकर उस खाई को पाटने की भरसक कोशिश की है। उनकी किसी भी रचना आलोचना को पढ़ लीजिए, उसमें साहित्य के जो समाज से गहरे अंतर्संबंध हैं, उसकी खोज, उसका चिंतन एवं उसकी बेहतरीन आलोचना उसमें निहित मिलेगी। यह बात अलग है कि बाबा नागार्जुन की जनवादी परंपरा, उनकी मानसिक–छाप बन जाती है, जो मरते दम तक उनसे अलग नहीं होती। अगर एक वाक्य में कहना हो तो यही कहा जा सकता है कि कविता एवं उपन्यासों में जो बाबा नागार्जुन का स्थान जनवादी के रूप में है, वही स्थान आलोचना के क्षेत्र में मैनेजर पांडेय का है। वे सच्चे अर्थों में बाबा नागार्जुन की वैचारिकता को आत्मसात एवं अमल करने वाले एक बेहतरीन आलोचक रहे हैं। उनके इस विषय/बात की पूर्ति किसी एक विशेषांक के रूप में ही हो सकती है– जिसकी कोशिश जरूर होनी चाहिए।... उन्हें 'आलोचन–दृष्टि–परिवार' की ओर से मैं सादर श्रृद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

उपरोक्त अंक में कुल 15 शोध–लेख प्रकाशित हो रहे हैं, जिसमें हिंदी–भाषा के 12 शोध–पत्र, अंग्रेजी–भाषा के 2 शोध–पत्र और संस्कृत–भाषा का 1 शोध–पत्र सामिल किया गया है। पहला शोध–लेख 'हिंदू (सनातन) धर्म में वर्ण और जाति–व्यवस्था' कमलाकांत त्रिपाठी जी का है। यह एक मौलिक चिंतन से जुड़ा हुआ महत्त्वपूर्ण वैचारिक शोध–पत्र है, जिसे हर एक विद्वान एवं चिंतक को पढ़ना एवं समझना आवश्यक है।... शेष सभी शोध–पत्र अपने–अपने क्षेत्र के विद्वानों की के चिंतन–शीलता को दिग्दर्शित करते हैं, जो वर्तमान की सच्चाई की समसामयिक अभिव्यक्ति भी है। इस अंक के संपादन हेतु आलोचन–दृष्टि परिवार को आभार ज्ञापित करता हूँ एवं पाठकों–लेखकों के स्नेह एवं लगाव के प्रति कृतज्ञ भी हूँ। शेष....

31 दिसम्बर, 2022।

विषयानुक्रमणिका

- संपादकीय

1. हिंदू (सनातन) धर्म में वर्ण और जाति-व्यवस्था — 1-26
   कमलाकांत त्रिपाठी
2. सर्वोदय की भारतीय चेतना और नारी — 27-30
   आकांक्षा अग्निहोत्री
3. स्वाधीनतापूर्व हिन्दी पत्रकारिता की विकास-यात्रा — 31-34
   प्रो. सुधारानी सिंह
4. भक्ति-साहित्य और सामाजिक-समरसता — 35-41
   उमेश कुमार
5. समकालीन हिंदी कविता और कुँवर नारायण — 42-44
   डॉ. सुनील कुमार मिश्र
6. भाववाद बनाम वस्तुवाद : एक सौंदर्य शास्त्रीय विवेचन — 45-49
   योगेन्द्र कुमार मीना
7. निर्गुण संत काव्य-परम्परा और दादू की कविताई — 50-54
   मोहन कुमार
8. अमृतराय के उपन्यासों में मानवीय-संवेदना — 55-58
   आम्बरीन अरशद
9. विभाजन केंद्रित प्रमुख हिंदी उपन्यास : विस्थापन की समस्याएँ — 59-61
   फातिमा कनीज
10. अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी का निर्माण एवं प्रमापीकरण — 62-68
    रुपाली गुप्ता एवं डॉ. छाया सोनी
11. विशिष्ट शिक्षकों और दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य... — 69-73
    राम कुमार मानिक एवं डॉ. आर. एन. शर्मा
12. अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक-आर्थिक विकास (मध्यप्रदेष के झाबुआ... — 74-78
    इन्दू सिंह निंगवाल एवं डॉ. देवेन्द्र मुझाल्दा
13. **Women's Political Participation in India** — 79-82
    Dr. Kiran Jha
14. **Trend Analysis of Educational Researches Done From Year 2010...** — 83-90
    Dr. Vandana Sharma & Dr. Harish Pandey
15. चक्रपाणिविजयमहाकाव्यस्य अलङ्कृतिविमर्शः (प्रथमदशसर्गाः) — 91-94
    डॉ. अनमोल शर्मा

हिंदू (सनातन) धर्म में वर्ण और जाति-व्यवस्था

कमलाकांत त्रिपाठी*

(1)

इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और औपचारिक–अनौपचारिक विमर्श निरंतर जारी है। चुनावों के समय, ख़ासकर उत्तर भारत में, सामान्यजन में अस्मिता–बोध और पीड़ित–मानसिकता जगाने का यह एक बना–बनाया और बार–बार आज़माया गया औज़ार है। इस बोध और इस मानसिकता का येन केन प्रकारेण दोहन करने की प्रवृत्ति आम है, जो हिंदू समाज के विद्वेषपूर्ण विखंडन को बल देती है। लिहाज़ा, मौजूदा परिदृश में हिंदू समाज के इस कलंक को समाप्त करने में खाँटी रुचि किसी की नहीं दिखती। इसलिए जाति–व्यवस्था के इस राजनीतिक विमर्श में कोई पक्ष लिए बिना, इसकी उत्पत्ति, स्वरूप और परिणति का यथासंभव तटस्थ ऐतिहासिक और अकादमिक लेखा–जोखा प्रस्तुत करने की प्रासंगिकता अभी निःशेष नहीं हुई है।

यह एक चौंकानेवाला किंतु कटु सत्य है कि प्रायः सभी उन्नत सभ्यताएँ समाज के एक बड़े वर्ग के शोषण पर फल–फूलकर ही उन्नत हुई थीं। सभ्यता और संस्कृति की ऊँचाइयाँ छूने के लिए उस वर्ग को इतिहास में अनाम और अदृश्य रहकर चुपचाप अपने को होम कर देना पड़ा था। वर्तमान औद्योगिक सभ्यता में भी इस तत्व के अवशेष देखे जा सकते हैं। उपनिवेशवाद के बिना औद्योगिक क्रांति की संभावना बहुत न्यून थी और उपनिवेशवाद उपनिवेशों के शोषण का एक सुदृढ़ संस्थागत स्वरूप था। उपनिवेशों और उपनिवेशक देशों के भीतर चले आ रहे पारंपरिक शोषण के समांतर।

यूनानी सभ्यता में दासों की स्थिति पर कोई चिंतन नहीं मिलता क्योंकि वे नगर राज्यों के नागरिकों में शामिल ही नहीं थे, जिन्हें प्लेटो ने शासक, सैनिक और उत्पादक की तीन श्रेणियों में बाँटा है। मुख्यतः दासों के श्रम की बदौलत ही बौद्धिक–वर्ग को जीविकोपार्जन की चिंताओं से मुक्त, चिंतन–मनन के लिए वह बहुमूल्य चीज़ मिलती थी, जिसे प्राचीन यूनान में 'अवकाश' (leisure) कहा जाता था, और जिसे एक चिंतनशील, सार्थक नागरिक जीवन जीने के लिए अनिवार्य बताया गया था। प्लेटो ने तो दासों पर कोई विचार ही नहीं किया और अरस्तू ने उन्हें जीवित औज़ार कहकर टाल दिया। रोमन साम्राज्य के युग में दासों की संख्या में विपुल विस्तार हुआ। रोमन भी यूनानियों की तरह विदेशियों को (भारतीयों के 'म्लेच्छ' की तर्ज़ पर) बर्बर समझते थे। साम्राज्य–निर्माण और विस्तार की प्रक्रिया में युद्ध में विजित सेना के बंदी सैनिकों को दास बनाने की प्रथा आम थी। कभी–कभी तो विजित प्रदेश के सारे निवासियों को दास बना लिया जाता था। यही दास मनोरंजन के लिए स्टेडियम में ग्लेटियेटर के रूप में, दो में से एक की मौत तक, आपस में लड़ाए जाते थे, जिसकी क्रूरता का आख्यान हॉवर्ड फ़ास्ट के प्रसिद्ध उपन्यास स्पार्टकस में वर्णित है। एक विडम्बना के तौर पर, साम्राज्य–विस्तार के साथ रोमन सेना में 'बर्बर' सैनिकों की वृद्धि ही रोमन साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण बनी; इन सैनिकों में रोमन सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति के अभाव के चलते जर्मन, गोथ, बंडल एवं हूण क़बीलों के भीषण आक्रमण के सामने रोमन साम्राज्य ताश के पत्ते की तरह ढह गया। दास–प्रथा यूरोप के मध्ययुग से होते हुए आधिनुक युग की प्रारम्भिक शताब्दियों तक निर्बाध चलती रही। दास–प्रथा के ख़ात्मे के बाद यही दास भूदासों (Serfs) में अंतरित हो गए, जो सामंतों की जायदाद में बँधुआ मज़दूर की तरह काम करते थे और एक सामंत की जायदाद छोड़कर दूसरे के यहाँ नहीं जा सकते थे। आए दिन कोड़े खाना उनकी सामान्य नियति थी।

अफ़्रीका के स्वतंत्र लोगों को हठात् घेरकर उन्हें पकड़ने और जबरन दास बनाकर, जहाजों में ठूंसकर, अन्य महाद्वीपों में ले जाकर उन्हें पशुवत् बेच देने की प्रथा अमेरिकी गृहयुद्ध (1861–1865) तक

***प्रख्यात चिंतक एवं लेखक, 40/891, कुवेम्पू नगर, हिण्डाल्गा, बेलगावी, कर्नाटक–591108।**

चलती रही जब उत्तर के उद्योग–प्रधान राज्यों के संयुक्त मोरचे ने कृषि–प्रधान दक्षिणी राज्यों के संघ को पराजित कर दास–प्रथा के उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त किया। इसका मूल्य इस अभियान के नायक राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को अपने जीवन का बलिदान देकर चुकाना पड़ा।

औद्योगिक क्रांति के बाद दास से भूदास बने गाँवों के किसान भरभरा कर शहरों की ओर भागे और वहाँ कारख़ानों में मज़दूरी करने लगे। मार्क्सवाद में उन्हें सर्वहारा (Proletariat) कहा गया क्योंकि उनके पास शरीर के सिवा कुछ भी नहीं था और जीवित रहने की न्यूनतम सुविधाओं के मूल्य (वेतन) पर उसे पूँजीपतियों को बेचने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। पूँजीपति उन्हें उतना ही देता था जितने से वे काम करने लायक बने रहें और अपने परिवार को बनाए रखें ताकि अगली पीढ़ी को भी मज़दूर मिलते रहें। लंदन में ये टेम्स के किनारे झुग्गियों में रहते थे जहाँ दुर्गंध–भरे कचरे की भरमार होती थी। फिर भी ये सर्वहारा भूदासों से बेहतर स्थिति में थे क्योंकि ये अपने वेतन को जैसे चाहें, ख़र्च करने के लिए स्वतंत्र थे और एक पूँजीपति को छोड़कर दूसरे के कारख़ाने में काम करने जा सकते थे। यही कारण है कि इस दौर में गाँवों से शहरों की ओर पलायन इतनी तेज़ी से हुआ कि औद्योगिक क्रांति में अग्रणी इंग्लैंड जैसे देशों के कई निर्वाचन क्षेत्रों में बहुत थोड़े मतदाता रह गए, जिनका मत ख़रीदकर कोई भी साधन–संपन्न व्यक्ति संसद सदस्य बन सकता था; इसीलिए इन क्षेत्रों को पॉकेटबरो या रॉटेनबरो कहा गया। यह इस बात का प्रमाण है कि सर्वहारा की स्थिति कितनी भी दयनीय रही हो, वह भूदासों से बेहतर थी। उसी तरह भूदासों की स्थिति दासों से बेहतर थी। इससे यूरोप में दासों की क्या स्थिति थी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। श्रम–कल्याण के क़ानूनों से धीरे–धीरे मज़दूरों की दशा में सुधार हुआ किंतु सामंतयुग के अवशेष सामान्यजन (commoner) और भद्रपुरुष (gentleman) के बीच की ठोस दीवार बहुत बाद तक क़ायम रही। उपनिवेशों सहित सभी जगह प्रशासनिक अधिकारी और सेना के कमीशन–प्राप्त अधिकारी भद्र–वर्ग के (पूर्व सामंती ख़ानदान के कुलीन) लोग ही होते रहे।

भारत का औद्योगीकरण मज़दूरों की हालत में काफ़ी सुधार हो चुकने के बाद शुरू हुआ। इसलिए यहाँ न ही कभी 'औद्योगिक क्रांति' हुई, न सर्वहारा का उदय। भारत में पश्चिम की तरह की दास–प्रथा भी नहीं रही, न भूदासों पर निर्भर वहाँ की तरह का लॉर्ड और वासल के पिरामिड वाला सामंतवाद। खेती के साथ उन्नत हस्तशिल्प के सहारे (जिसके उच्च कोटि के उत्पाद की विश्वबाज़ार में जबरदस्त माँग थी) लोगों की बुनियादी ज़रूरतें पूरी होती रहीं। जैसा कि फ़ाहियान (327–422 ई.) और ह्वेनसांग (602–664 ई.) के निष्पक्ष वर्णनों से पता चलता है, प्राचीन भारत में सामान्य जनता अमूमन खुशहाल रही।

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'Who were the Shudras' (1946) में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की विवेचना ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की उस कुख्यात ऋचा से शुरू की है– ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोजायत।' (10.90.12) (ब्राह्मण उसका मुख था, बाँहों से क्षत्रिय की रचना की गई, वैश्य उसकी जंघा थी, शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुआ।) पुरुष सूक्त की सोलह ऋचाएँ सृष्टि का काव्यात्मक रूपक खड़ा करती हैं जिसमें यज्ञ पुरुष (या विराट पुरुष) के भिन्न–भिन्न अंगों से सृष्टि के भिन्न–भिन्न उपादानों की रचना का आख्यान है। किंतु ऋग्वेद की ही कई ऋचाएँ हैं जो मनुष्यमात्र की उत्पत्ति मनु से प्रतिपादित करती हैं (1.80.16; 1.114.2; 2.33.13; 3.3.6; 4.14.2; 4.37.1; 6.14.2 और 8.52.1) मनु के आदिपुरुष होने की यह धारणा इतनी मूलभूत है कि पुराण, स्मृति तथा धर्मसूत्र बार–बार इसका उल्लेख करते हैं। अंतर्विरोध स्पष्ट है यह है कि मानव मात्र के पूर्वज एक ही (मनु) थे या वे यज्ञ पुरुष के चार भिन्न अंगों से उद्भूत चार भिन्न पुरुष थे। ऋग्वेद की एक ऋचा (9.112.3) का ऋषि (कवि) घोषित करता है––मैं बढ़ई हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माँ उपले बनाती हैं (कारुरहं ततो भिषक् उपलपृक्षिणी नना)। पुरुष सूक्त को छोड़कर ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं चार वर्णों का उल्लेख नहीं मिलता।

(2)

प्राच्यविद्या (Indology) के प्रसिद्ध विद्वान हेनरी टॉमस कोलब्रुक (Henry Thomas Colebrooke : 1765–1833) के अनुसार पुरुष सूक्त अपनी भाषा, छंद और शिल्प की दृष्टि से सृष्टि–सम्बंधी ऋग्वेद के

अन्य सूक्तों से सर्वथा भिन्न है। इन सूक्तों में सबसे अधिक वैज्ञानिक और गवेषणात्मक नासदीय सूक्त है जिसकी सात ऋचाओं को एकाधिक बार अर्थ–सहित इस वॉल पर पोस्ट किया जा चुका है। उसी दसवें मंडल में होने के बावजूद पुरुष सूक्त और नासदीय सूक्त में प्रयुक्त भाषा, छंद और शिल्प सर्वथा भिन्न हैं। कोलब्रुक का मत है कि पुरुष सूक्त की रचना तब हुई जब वैदिक संस्कृत अपने व्याकरण और लयात्मकता में काफ़ी परिष्कृत हो चुकी थी। प्रो. मैक्स मूलर (1823–1900) के अनुसार भी पुरुष सूक्त भाषा की संरचना और शब्द–योजना में ऋग्वेद के बहुत बाद की रचना है। उदाहरण के लिए इसमें वसंत, ग्रीष्म और शरद ऋतुओं का इसी क्रम में उल्लेख हुआ है जब कि ग्रीष्म शब्द ऋग्वेद के किसी अन्य सूक्त में नहीं मिलता और वसंत शब्द तो आरम्भिक वैदिक शब्दभंडार में कहीं मिलता ही नहीं। जो भी हो, वैदिक युग के सामाजिक व्यवहार में वर्ण–व्यवस्था की उपस्थिति का कोई साक्ष्य नहीं। अतिशय लालित्यपूर्ण भाषा में लिखा गया पुरुष सूक्त निश्चय ही बाद का प्रक्षिप्त है और नासदीय सूक्तकार की सृष्टि–विषयक ईमानदार जिज्ञासा के विपरीत, सामी धर्मों के ईश्वर द्वारा छः दिन में सृष्टि–रचना की तर्ज़ पर, यज्ञ या विराट पुरुष के अंग–प्रत्यंग से सृष्टि के सारे उपादानों की धड़ाधड़ निर्मिति का रूपक खड़ा कर देता है। ऊपर उद्धृत ऋचा से स्पष्ट है कि इसकी रचना तब हुई जब ऋग्वेद–कालीन पेशे धीरे–धीरे आनुवंशिक हो गए थे और उनके आधार पर बने चार वर्णों का सोपानीकरण भी हो गया था। व्यवहार की इस परिणति को दैवी आधार देने के लिए पुरुष सूक्त को ऋग्वेद के उसी दसवें मंडल में घुसा दिया गया जिसमें सृष्टि–विषयक मानवीय जिज्ञासा की पहली काव्यात्मक अभिव्यक्ति नासदीय सूक्त के रूप में मौजूद थी (यह तो निर्विवाद है कि ऋग्वेद विश्व की प्रथम ज्ञात काव्य–कृति है)।

ऐसा नहीं कि डॉ. अम्बेडकर को ऋग्वेद के सृष्टि–विषयक अन्य सूक्तों तथा पुरुष सूक्त की भाषाई भिन्नता का इल्म नहीं था। दरअसल ब्राह्मणों में इस सूक्त की अतिशय लोकप्रियता थी जो दैनिक पूजा में इसके नियमित पाठ तथा हर मांगलिक अवसर पर इस लालित्यपूर्ण सूक्त के सस्वर गायन की परम्परा (जो अब तक चली आई है) में व्यक्त होती थी। इसमें निहित विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति का रूपक उनकी आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति का पोषण करती थी। ब्राह्मणों में इसकी असाधारण लोकप्रियता के चलते जाति–व्यवस्था की उत्पत्ति की खोज में इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। बावजूद इसके इस सूक्त की उपरोक्त ऋचा में वर्णित वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति ऋग्वेदकालीन समाज का आईना नहीं कही जा सकती। उसमें केवल पेशों का अस्तित्व था जो तब तक आनुवंशिक नहीं हुए थे, न ही ऊँच–नीच की भावना का जन्म हुआ था।

वर्ण और जाति–व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बंध में प्रचलित कई सिद्धांत, ख़ासकर मार्क्सवादी (वामपंथी) सिद्धांत, तथ्य और तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। बल्कि इतिहास में द्वंद्वात्मक संघर्ष आरोपित करने और उसके सहारे आज के समाज में परस्पर विद्वेष के बिंदुओं को उत्प्रेरित करने के एजेन्डे की गढ़ंत लगते हैं। यह निराधार आरोप नहीं है। कुछ वामपंथी बौद्धिकों में एक अजीब प्रवृत्ति देखने को मिली। वे वर्ण और जाति की उत्पत्ति के आर्यों के आक्रमण–सम्बंधी नस्ली सिद्धांत को मानने या न मानने के आधार पर किसी के असली मार्क्सवादी होने या न होने का निर्णय करते हैं। इस सिद्धांत को माननेवालों की शिनाख़्त मार्क्सवादी के रूप में और इसे न माननेवालों की सांस्कृतिक राष्ट्रवादी के रूप में करते हैं (संदर्भः धनंजय वर्मा का आलेख, लहक, अप्रैल–सितम्बर 2019)। मुद्दा मार्क्सवादी या सांस्कृतिक राष्ट्रवादी होने का नहीं, सीधे–सीधे तथ्य और साक्ष्य का अकादमिक मुद्दा है जो मार्क्सवाद से निरपेक्ष है। ईमानदार शोध और उससे उपलब्ध सामग्री के वस्तुपरक विश्लेषण का है, उसका हासिल मार्क्सवादी प्रमेय को पुष्ट करे या उसके विरुद्ध जाए।

उपरोक्त नस्ली सिद्धांत के अनुसार आर्यों ने बाहर से आकर यहाँ के मूल निवासियों (द्रविड़ों /जनजातियों, वनवासी क़बीलों) को पराजित किया, उन्हें असुर, दस्यु या राक्षस की संज्ञा दी और बाद में शूद्र के रूप में उन्हें आत्मसात् कर लिया। उनमें से जो ज़्यादा बहादुरी से लड़े, उन्हें दबाकर अस्पृश्य क़रार दे दिया।

सबसे पहले तो आर्य शब्द किसी नस्ल या नस्ली समूह के अर्थ में न वैदिक संस्कृत में कहीं प्रयुक्त हुआ है, न लौकिक संस्कृत में। इसका सबसे अधिक प्रयोग श्रेष्ठ के अर्थ में हुआ है। संबोधन में ही नहीं, वार्तालाप में 'आप' की जगह सर्वत्र, जैसे आर्य आएँ, आर्य आसन ग्रहण करें, आर्य को ऐसा करना चाहिए, आर्य को ऐसा नहीं करना चाहिए। हर व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ को आर्य (पुल्लिग) या आर्या (स्त्रीलिंग) कहता है। छोटा भाई बड़े भाई को आर्य कहता है तो इसका निहितार्थ यह नहीं कि वह स्वयं अनार्य है। पत्नी अपने पति को आर्यपुत्र कहती है तो इसका तत्पर्य यह नहीं कि वह अनार्य की पुत्री है। यही बात आर्या पर भी लागू होती है, मृच्छकटिकतम् में वसंतसेना गणिका होने के बावजूद अपनी प्रतिष्ठा के चलते खलनायक को छोड़कर अन्य सभी के द्वारा आर्या कही जाती है। आर्य और आर्या का प्रयोग लगभग उसी तरह होता था जैसे आजकल सर (Sir) और मैडम (Madam) का होता है।

ऋग्वेद में दो शब्द मिलते हैं– अर्य और आर्य। अर्य का प्रयोग 88 स्थानों पर चार भिन्न–भिन्न अर्थों में हुआ है– श्रेष्ठ व्यक्ति, शत्रु (अरि), भारत देश और जुताई किए जानेवाले खेतों का मालिक। आर्य शब्द का प्रयोग 33 स्थानों पर हुआ है किंतु कहीं भी नस्ल या नस्ली समूह के अर्थ में नहीं। मैक्स मूलर पहले आर्य नस्ल के पैरोकार थे। बाद में सम्यक् अध्ययन के बाद उन्हें अपनी त्रुटि का एहसास हुआ और उन्होंने लिखा– 'There is no Aryan race in blood (Aryan in scientific language is utterly inapplicable to race- It means language and nothing but language(and if we speak of Aryan race at all, we should know that it means no more than Aryan speech' (Science of Language)

(रक्त से आर्यन नस्ल जैसी कोई चीज़ नहीं। वैज्ञानिक भाषा में आर्यन किसी नस्ल का द्योतक नहीं। इसका तात्पर्य केवल और केवल भाषा से है। यदि हम आर्यन नस्ल की बात करते ही हैं, तो हमें जानना चाहिए तो इसका अर्थ केवल आर्यन वाणी से है।)

वामपंथी प्रमेय यह है कि आर्यों के आक्रमण के पहले सिंधु नदी के तट पर हड़प्पा–मोहनजोदाड़ो में सिंधु घाटी की सभ्यता फल–फूल रही थी जो एक विकसित नागर सभ्यता थी। आर्यों ने आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया और ग्राम्य बस्तियों वाली कृषि–प्रधान सभ्यता की नींव डाली; जिस इलाक़े में वे सबसे पहले आबाद हुए उसे सप्तसिंधु का नाम दिया; वहाँ से वे गंगाघाटी की ओर बढ़े जिसे आर्यावर्त नाम दिया गया।

अब तक हड़प्पा सभ्यता के अवशेष सिंध के अलावा दूर–दूर तक फैली अनेक जगहों पर मिल चुके हैं। जैसे बलूचिस्तान, हरयाणा (रोहतक, फ़तेहाबाद) गुजरात (बेट–द्वारका, बाबरकोट–सौराष्ट्र, भरूच, कच्छ), राजस्थान (हनुमानगढ़), उत्तरप्रदेश (सहारनपुर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर) और महाराष्ट्र (अहमदनगर)। अब लगभग सिद्ध हो चुका है कि सिंधु घाटी सभ्यता और आर्य सभ्यता साथ–साथ फल–फूल रही थीं। ऋग्वेद का काल–निर्धारण असाध्य है, इसमें दस मंडल (खंड) हैं और इसकी रचना इतने लम्बे अंतराल में हुई थी कि यह नहीं कहा जा सकता, इसमें वर्णित सभ्यता सिंधु घाटी सभ्यता के बाद विकसित हुई और उसके पहले या उसके समानांतर इसका अस्तित्व नहीं था। हड़प्पा–मोहनजोदाड़ो की खुदाई में ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिला जो आक्रमणकारी द्वारा किए गए विनाश का संकेत दे, जो भी चीज़ें मिली हैं उनमें मनुष्य द्वारा कुछ भी खंडित किए जाने का साक्ष्य नहीं है, जो शव मिले हैं, उनमें किसी लड़ाई से लगे हुए घावों से मृत्यु का कोई संकेत नहीं। सारे साक्ष्य यही इंगित करते हैं कि तटवर्ती नदी के सूखने या धारा बदलने से सारा शीराजा बिखर गया। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा में ही नहीं, उपरोक्त किसी साइट पर किसी तरह की हिंसा से सभ्यता के विनाश का संकेत नहीं मिला। इस संभावना को ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि ये उन्हीं लोगों की बस्तियाँ थीं जो शेष भारत में आबाद थे। इतने बड़े भूप्रदेश के निवासियों की सभ्यता–संस्कृति सर्वथा एकरूप नहीं हो सकती। आज यातायात की सुविधा के बावजूद देश के भिन्न–भिन्न प्रांतों में लोगों के रहन–सहन और सभ्यता–संस्कृति के विभिन्न घटकों में एकरूपता नहीं है। आज भी जंगलों में रहनेवाले वनवासी हैं, भिन्न–भिन्न इलाक़ों में रहनेवाले भिन्न–भिन्न रहन–सहन और विश्वासों की जनजातियाँ हैं, साथ ही मुख्यधारा के नगरवासी और ग्रामवासी हैं, उनमें भी सभी क्षेत्रों में परस्पर सांस्कृतिक एकरूपता नहीं है।

वर्ण और जाति की उत्पत्ति के पीछे तथाकथित आर्यों के बाहर से आने के नस्ली सिद्धांत को ख़ारिज करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने अपने आलेख 'Annihilation of Caste' (यह 1936 में जाति–पाँति तोड़क मंडल के अधिवेशन में प्रस्तावित भाषण का प्रारूप था, जो टल गया) में जो कहा था, आज तक मील का पत्थर बना हुआ है– 'As a matter of fact Caste system came into being long after the different races of India had co&mingled in blood and culture. To hold that distinctions of Caste are really distinctions of race and treat different Castes as though they were so many different races is a gross perversion of facts. What racial affinity is there between the Brahmin of the Punjab and the Brahmin of Madras? What racial affinity is there between the untouchable of Bengal and the untouchable of Madras? What racial difference is there between the Brahmin of the Punjab and the Chamar of the Punjab? What racial difference is there between the Brahmin of Madras and the pariah of Madras? The Brahmin of the Punjab is racially of the same stock as the Chamar of the Punjab and the Brahmin of Madras is of the same race as the Pariah of Madras. Caste system does not demarcate racial division- Caste system is a social division of the people of the same race.' (Writings and Speeches Vol- 1-2 & Annihilation of Caste, P-48, Education Deptt, Government of Maharashtra, 1989)

(वस्तुतः भारत की विभिन्न नस्लों के रक्त और संस्कृति में परस्पर घुलने–मिलने के बहुत बाद जाति–व्यवस्था अस्तित्व में आई। यह मानना कि जातियों का अंतर दरअसल नस्लों का अंतर है और विभिन्न जातियाँ इतनी सारी नस्लें हैं, तथ्य की घोर विकृति होगी। पंजाब के ब्राह्मणों और मद्रास के ब्राह्मणों में कौन सी नस्ली साम्यता है? बंगाल के अछूतों और मद्रास के अछूतों में कौन सी नस्ली साम्यता है? और पंजाब के ब्राह्मणों एवं पंजाब के चमारों में क्या नस्ली अंतर है? मद्रास के ब्राह्मण और मद्रास के अछूत में क्या नस्ली अंतर है? पंजाब का ब्राह्मण नस्ली तौर पर उसी वंश का है जिसका पंजाब का चमार है; मद्रास का ब्राह्मण उसी नस्ल का है जिसका मद्रास का अछूत है। जाति–व्यवस्था नस्ली विभाजन को रेखांकित नहीं करती। वस्तुतः जाति–व्यवस्था एक ही नस्ल के लोगों का सामाजिक विभाजन है।)

(3)

डॉ. अम्बेडकर के पूर्व उद्धृत कथन के शुरू में एक अहम् तथ्य का उल्लेख है। भारत की विभिन्न नस्लों के रक्त और संस्कृति के परस्पर घुलने–मिलने के बहुत बाद जाति–व्यवस्था अस्तित्व में आई। निश्चय ही इस उर्वर क्षेत्र में विभिन्न नस्लों का आव्रजन प्रागैतिहासिक काल में हो चुका था जब अफ़्रीका से शुरू होकर मानव प्रजाति की अंतर्महाद्वीपीय यात्राओं का अनुमान लगाया जाता है। तो स्थिति यह है कि ऐतिहासिक काल की शुरुआत से ही तथाकथित आर्य और तथाकथित मूल निवासी रक्त और संस्कृति में परस्पर घुलमिलकर यहाँ रहते हुए पाए गए। ऐसे में प्रकृत निष्कर्ष तो यही होगा कि दोनों अज्ञात काल से यहीं रहते रहे थे। ऐसे में यह सिद्ध करने की ज़िम्मेदारी उन पर आ जाती है जो दावा करते हैं कि तथाकथित मूल निवासियों के दीर्घकाल तक यहाँ बसे होने के बाद तथाकथित आर्य बाहर से आक्रांता बनकर आए और मूल निवासियों को पराजितकर, दास, शूद्र और अस्पृश्य बनाकर अपनी समाज–व्यवस्था में शामिल कर लिए। इसके लिए पहले तो यह सिद्ध करना होगा कि आर्य बाहर से आए और मूल निवासियों से भिन्न नस्ल के लोग थे। पूर्व विमर्श से यह स्पष्ट हो गया कि आर्य जैसी कोई नस्ल थी ही नहीं। फिर उपरोक्त प्रमेय के कर्ताओं को यह सिद्ध करना पड़ेगा कि वे कहाँ से आए और जहाँ से भी आए, वहाँ वे कौन–सी स्थानीय परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने इतनी बड़ी संख्या में उन्हें एक साथ या रह–रहकर आक्रामक समूह बनाकर विस्थापित होने को मजबूर किया, विस्थापित होकर कहाँ जाना है, इसके लिए फ़िलहाल इस क्षेत्र के उपजाऊ होने का प्रेरक तत्त्व स्वतःसिद्ध मान लेते हैं। विस्थापन की स्थानीय परिस्थितियों के निर्धारण के लिए पहले तो यह निश्चित होना ज़रूरी है कि वे कहाँ से आए। इस सम्बंध में कुछ प्रमुख प्रमेय हैं–

1. बेनफी (Benfey) का मत, जिसका प्रो. आइसाक टेलर (Isaac Tayler) ने संक्षिप्तीकरण किया है– कैस्पियन सागर के पूर्व और काला सागर के उत्तर का क्षेत्र।

2. गीगर (Geiger) का मत– काला सागर का उत्तर–पश्चिमी प्रांत।
3. प्रो. रिप्ली (Prof. Repley) का मत– काकेसिया
4. लोकमान्य तिलकमत का मत– आर्कटिक क्षेत्र
5. ज्योतिबा फुले (गुलामगीरी) का मत– फ़ारस (ईरान) (समुद्र मार्ग से)

जब तथाकथित आर्यों का मूल स्थान ही निश्चित नहीं है तो वे कब और क्यों वहाँ से निकले, यह तो पूरी तरह हवा में है। हुआ यह कि पहले उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने समाज को विखंडित रखने के साम्राज्यवादी लक्ष्य से एक सरलीकृत गढ़ंत प्रस्तुत किया। फिर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने वर्ग–संघर्ष और देश के अतीत का कालिमामय चित्र प्रस्तुत करने के अपने विचारधारात्मक लक्ष्य के लिए उसी साम्राज्यवादी लाइन को पकड़ लिया।

मनुष्य का जैसा स्वभाव है, क्या यह संभव है कि विस्थापित होने के बाद उसमें और उसकी आनेवाली पीढ़ियों में गृहदेश की स्मृतियाँ धुल–पुँछ्कर एकदम साफ़ हो जाएँ? इस क़दर कि ऋग्वेद से लेकर मध्यकाल तक का शास्त्र, साहित्य, दर्शन जैसे अनगिनत विषयों पर वाङ्मय का जो विशाल भंडार है उसमें गृह–देश का कहीं एक बार भी उल्लेख न मिले? उनकी स्मृति का एक कतरा तक कहीं उपलब्ध न हो? ऐतिहासिक काल में अन्य विस्थापित समूहों के साथ कहीं ऐसा हुआ है? इसके लिए तो एक ऐसे अमोघ और सर्वग्रासी षड्यंत्र की भूमिका अपरिहार्य है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी अकाट्य बना रहे। ऐसे किसी षड्यंत्र का कहीं लेशमात्र भी संकेत मिलता है? और विजयी समुदाय ऐसा क्यों करेगा? उसे क्या भय रहा होगा?

विपन्नता की बेहद विषम स्थिति में भारत से लोग गिरिमिटिया मज़दूर बनाकर फ़िजी, मॉरिशस, दक्षिण अफ़्रीका, ट्रिनिडाड–टोबैगो, गायना, सुरीनाम, जमैका जैसे दूरस्थ इलाक़ों में 19वीं शती में गन्ने की खेती के लिए ले जाए गए थे जिनमें से अधिकांश ऐग्रीमेंट की अवधि पूरी होने पर वहीं बस गए। ये अप्रवासी भारतीय यहाँ की अपने इलाक़े की बोली, पहनावा, व्यंजन, लोकगीत, (खंडित) वंश–वृक्ष, धार्मिक ग्रंथ (रामचरितमानस की प्रतियाँ लेकर गए थे) आज तक सँजोकर रखे हुए हैं। मुग़ल बादशाह बाबर, जो मध्य एशिया के फ़रग़ाना से आया था, अपने मूल निवास की भाषा चगताई में लिखी अपनी जीवनी 'बाबरनामा' में उस प्रदेश के लोगों, वहाँ के इतिहास, भूगोल, पौधों, जानवरों, हथियारों, युद्धों, पारिवारिक विवरणों, वहाँ के संगीत, वहाँ की कविता, वहाँ की शराब और वहाँ के ऐतिहासिक स्मारकों को बेहद शिद्दत से और बहुत भावुकता से याद करता है। ब्रिटिश अमेरिकन्स ने अतिशय साधनहीनता में, बहुत कठिन और असमान युद्ध लड़कर गृहदेश से स्वतंत्रता अर्जित की थी। किंतु उसकी स्मृति को जीवित रखने के लिए दर्जन भर से ऊपर अमेरिकन शहरों का नाम इंग्लैंड के शहरों पर 'न्यू' का विशेषण लगाकर रख छोड़ा है। उस पूरे क्षेत्र को जहाँ इंग्लैंड से आकर वे सबसे पहले बसे थे, न्यू इंग्लैंड कहते हैं। इस क्षेत्र के लोग अभी भी पुराने ब्रिटिश स्वराघात में अंग्रेजी बोलते हैं और वहाँ की आदतें नहीं छोड़ पाए हैं, जिसके चलते उन्हें (उपहासपूर्वक) 'बॉस्टन ब्राह्मण' कहा जाता है।

इसके विपरीत जिस भावप्रवणता और आत्मीयता से ऋग्वेद का ऋषि यहाँ की सात प्रमुख नदियों को संबोधित करता है– मेरी गंगा, मेरी यमुना, मेरी सरस्वती (ऋग्वेदः 10.75.5), किसी विदेशी आक्रांता के लिए असम्भव है। वैदिक और लौकिक दोनों संस्कृत की रचनाएँ यहाँ की प्रकृति, यहाँ के पहाड़ों, नदियों, सरोवरों, वनों, वृक्षों, फूलों, पशुओं, फ़सलों, के प्रति भावसंवलित रागात्मक उद्‌गार से भरी हुई हैं। ऐसा किसी अन्य बाह्य आक्रांता के साथ देखा गया है?

ऋग्वेद में देवताओं के दो प्रमुख समूहों का संदर्भ अवश्य मिलता है– देव और असुर। लेकिन बाद के ग्रंथों की तरह यहाँ असुरों का दानवीकरण नहीं हुआ है। देव समूह की माँ हैं अदिति जो असुर (आदित्य) समूह की भी माँ हैं। आदित्य समूह के दो प्रमुख देव मित्र और वरुण हैं जो देवों की तरह ही आदरणीय हैं। मिथकों में कश्यप की दो पत्नियाँ हैं– दिति और अदिति। दोनों के पिता दक्ष और माँ पंचजनी हैं, इस तरह दोनों सगी बहनें हैं। सभी देव या सुर समूह और असुर या आदित्य समूह इन्हीं दिति और अदिति की संतानें

हैं। सब के पिता कश्यप एक हैं और माताएँ हैं दक्ष और पंचजनी की दो पुत्रियाँ दिति और अदिति, यानी सगी बहनें। ऐसे में दोनों के भिन्न नस्ल का होने का प्रमेय मिथकीय धरातल पर पूर्णतः खंडित हो जाता है।

देवासुरसंग्राम, समुद्र–मंथन और समुद्र से निकले एक से एक विलक्षण पदार्थ शुद्ध पारलौकिक मिथकों के घटक हैं, और उन्हीं मिथकों के अनुसार दोनों समूह एक ही पिता और दो माताओं की संतानें हैं जो परस्पर बहनें हैं। मिथकों को या तो समग्रता में लेना पड़ेगा या उन्हें समग्रता में त्यागना पड़ेगा। उसके कुछ अंश को इतने प्राचीन घटित के इतिहास का आधार बनाना और कुछ की अवहेलना करना सर्वथा अनुपयुक्त है। यह किसी ग़ैर–ऐतिहासिक लक्ष्य से ही संभव हो सकता है। इस तरह देवासुरसंग्राम वगैरह को किसी ऐतिहासिक घटित से जोड़ना, अन्य साक्ष्यों के अभाव में, परियों की कहानी को इतिहास में अंतरित करना है।

पी. टी. श्रीनिवासन ऐंगर ने अपने गहन शोध के आधार पर सिद्ध किया है कि आर्य, दास, दस्यु किसी नस्ल के नहीं, संप्रदाय या पंथ के सूचक हैं। सम्प्रदायों में ही कालांतर में पार्थक्य बढ़ सकता है। यदि नस्ली संघर्ष को सिद्धांततः मान भी लिया जाय तो शुरु के चरण (ऋग्वेद) में यह अधिक शत्रुतापूर्ण होना चाहिए और बाद के आत्मसातीकरण के दौर में शत्रुता का शमन हो जाना चाहिए। किंतु हुआ है इसका विलोम। इससे आर्यों के भिन्न नस्ल का होने, बाहर से आकर आक्रमण करने और मूल निवासियों को दास बनाने का प्रमेय नहीं गढ़ा जा सकता। ऐसा करना पूर्व–निर्धारित उद्देश्य से लगाई गई कल्पना की निरंकुश दौड़ के सिवा कुछ नहीं है।

(4)

वर्ण और जाति व्यवस्था का क्रमिक विकास और उसके ज़मीनी कारण

*(**नोट–** प्राप्त तथ्यों के आलोक में, और अन्य प्रमेयों में गम्भीर छिद्र होने की स्थिति में, यह एक अनुमानाधारित किंतु इतिहास की यथाशक्य तार्किक व्याख्या है। सदाशयी असहमतियों का स्वागत।)*

पेशों पर आधारित ऋग्वेद–कालीन भारतीय समाज–व्यवस्था का वंशानुगत वर्णों और जातियों में विभाजन एक दीर्घकालीन प्रक्रिया थी और कुछ नए पेशे तो अभी भी वंशानुगत होने के क्रम में हैं। भारतीय परंपरा में काल की चक्रीय अवधारणा केंद्रीय होने तथा भारतीय सभ्यता के अति–प्राचीन होने के साथ–साथ इसके एक कालातीत अविच्छिन्न सूत्र में पिरोई होने के कारण वर्ण और जाति की संस्थाओं के उदय और दृढ़ीकरण का कालक्रम उपलब्ध न होना सहज–स्वाभाविक है। महात्मा बुद्ध का महापरिनिर्वाण (487–6 ई.पू) और सिकन्दर का आक्रमण (327–326 ई.पू.)––यही वे दो वर्ष हैं जो लगभग सुनिश्चित हैं, इनके पूर्व का एक सुदीर्घ कालखंड है जो कालक्रम की दृष्टि से पूर्ण अंधकार में है। सिर्फ़ अनुमान हैं जो इतने अनिश्चित हैं कि सैकड़ा हज़ार में और हज़ार दस हज़ार में हो सकता है।

आलेख के प्रथम खंड में आ चुका है कि ऋग्वेद के दशम मंडल का पुरुष सूक्त (जिसमें विराट या यज्ञ पुरुष के भिन्न–भिन्न अंगों से सृष्टि के भिन्न–भिन्न उपादानों की उत्पत्ति के रूपक में चार वर्णों की उत्पत्ति क्रमशः उसके मुख, भुजाओं, जंघा और पैरों से बताई गई है) बहुत बाद का प्रक्षिप्त है। रूढ़िवादी पंडितों को छोड़कर डॉ. अम्बेडकर सहित वैज्ञानिक दृष्टिवाले लगभग सभी विद्वान इस सूक्त को प्रक्षिप्त मान चुके हैं। इस सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं भी चार वर्णों का एक साथ उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत, नवें मंडल के 112 वें सूक्त का ऋषि तीसरी ऋचा में कहता है– कारुरहं ततो भिशगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

(मैं बढ़ई (शिल्पकार) हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और माँ उपले बनाती हैं। इस तरह हम इंद्रिय–वृत्तियों के अनुरूप (गा इव) ऊपर–नीचे के नाना काम करते हुए, ऐश्वर्य की कामना करते हैं। इसलिये हे प्रकाशस्वरूप (इंद्र), हमारी वृत्तियों को उच्चैश्वर्य के लिये (इंद्राय) प्रवाहित करें (परि स्रव)। (अनुमानित अनुवाद))

यह भी उल्लेखनीय है कि शुरू में तीन ही वेद माने जाते थे– ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद। तीनों के सूक्तों में काफ़ी घालमेल है। ऋग्वेद के कई सूक्त सामवेद और यजुर्वेद में मिलते हैं और तीनों के

प्रतिपाद्य की धारा भी एक ही है। इन तीनों वेदों को मिलाकर 'त्रयी' कहा जाता था। अथर्ववेद को वेद की मान्यता बहुत बाद में मिली, उसके बाद ही वेदों की संख्या चार मानी जाने लगी। चूँकि ऋग्वेद में (प्रक्षिप्त पुरुष सूक्त को छोड़कर) चार वर्णों का उल्लेख नहीं है, उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वैदिक धारा के दौरान, यानी त्रयी के काल में, वर्ण व्यवस्था का उदय नहीं हुआ था। बहुत संभव है, वर्ण व्यवस्था का उदय त्रयी की रचना तथा अथर्व वेद की रचना के अंतराल में हो गया हो, जो काफ़ी लंबा काल–खंड है। यह भी उल्लेखनीय है कि शुरू में तीन ही वर्ण थे– ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य) और वैश्य।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (PPP.12.9.2) में उल्लेख है– "इस संपूर्ण ब्रह्मांड की सृष्टि ब्रह्मा के द्वारा हुई है। लोग कहते हैं कि वैश्य वर्ण की उत्पत्ति ऋक् मंत्रों (ऋग्वेद) से हुई, वे कहते हैं क्षत्रियों की उत्पत्ति यजुर्वेद के गर्भ से हुई, और, वे कहते हैं, ब्राह्मणों की उत्पत्ति का स्रोत सामवेद है। ऐसा पुराने लोग पुराने लोगों को बताते थे" ('Who were the Shudras', द्वितीय संस्करण, 1947, पृ.133 पर उद्धृत)। ध्यातव्य है कि (1) यहाँ शूद्र की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है। (2) ब्रह्मा द्वारा ब्रह्मांड की सृष्टि तो निश्चयात्मक ढंग से बताई गई है किंतु तीनों वर्णों की उत्पत्ति के संदर्भ में 'लोग कहते हैं' और 'पुराने लोग पुराने लोगों को बताते थे' का आलम्बन लिया गया है। (3) ब्राह्मण को ऋग्वेद के बजाय सामवेद से, वैश्य को यजुर्वेद के बजाय ऋग्वेद से और क्षत्रिय को सामवेद के बजाय यजुर्वेद से उत्पन्न बताया गया है। (त्रयी का क्रम ऋग्वेद–सामवेद–यजुर्वेद और वर्णों का क्रम ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य निर्विवाद है।) इससे स्पष्ट है कि समाज का तीन वर्णों में यह विभाजन भी तैत्तिरीय ब्राह्मण के रचनाकाल तक पुष्ट नहीं हुआ था।

शतपथ ब्राह्मण (II.1.4.11) में उल्लेख है कि प्रजापति ने 'भूः' का उच्चारण करते हुए ब्राह्मण को उत्पन्न किया, 'भुवः' का उच्चारण करते हुए क्षत्रिय को उत्पन्न किया और 'स्वः' का उच्चारण करते हुए वैश्य को उत्पन्न किया (संदर्भ वही)। यहाँ भी शूद्र की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है।

अमूमन ब्राह्मण ग्रंथों को सभी वैदिक संहिताओं के बाद की रचना माना जाता है किंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं। प्रो. बेलवल्कर, महादेव गोविंद रानाडे और डॉ. अम्बेडकर का मत है कि ब्राह्मण ग्रंथ वेदों के सहायक ग्रंथ की तरह हैं। जैसे ऊपर उद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद का और शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का सहायक ग्रंथ है। इसलिए इन दोनों की रचना यजुर्वेद के साथ या ठीक बाद किंतु अथर्ववेद से बहुत पहले हुई होगी। यजुर्वेद और अथर्ववेद के रचनाकाल में एक बड़ा अंतराल दोनों की विषयवस्तु से स्पष्ट है। अस्तु, चातुर्वर्ण्य का जन्म त्रयी और अथर्ववेद की रचना के अंतराल में ही संभव है।

अब सबसे कठिन प्रश्न– जब शुरू में तीन ही वेद और तीन ही वर्ण थे तो शूद्र वर्ण की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? फिर बाद के शूद्र केवल तीन वर्णों के अस्तित्व के उपरोक्त काल में, किस वर्ण में शामिल रहे होंगे? डॉ. अम्बेडकर की स्थापना है कि वे क्षत्रियों में शामिल थे, बल्कि क्षत्रिय ही थे। वस्तुतः 'Who were the Shudras' की केंद्रीय स्थापना यही है।

इसमें दो राय नहीं कि ऐतिहासिक काल में भी नंद और मौर्य जैसे कई शक्तिशाली राजा शूद्र हुए और महज़ शूद्र होने के आधार पर उनके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई गई, न इस आधार पर उनका कोई प्रतिरोध हुआ। किंतु डॉ. अम्बेडकर क्षत्रिय राजा सुदास या उसके वंशजों के क्षत्रिय से शूद्र मान लिए जाने की घटना को ऐतिहासिक काल से बहुत पहले ले जाते हैं और इसे ब्राह्मण ऋषि वसिष्ठ तथा क्षत्रिय ऋषि विश्वामित्र की आपसी प्रतिद्वंद्विता एवं संघर्ष से जोड़ देते हैं। राजा सुदास तथा ऋषि वसिष्ठ एवं विश्वामित्र तीनों ऋग्वेदकालीन हैं। इसलिए तत्वतः यह इतिहास का नहीं, पौराणिकी (mythology) का विषय है।

कथा यह है कि वसिष्ठ इक्ष्वाकुवंशीय राजा सुदास के पारिवारिक पुरोहित थे। सुदास का राजतिलक समारोह वशिष्ठ ने ही सम्पन्न कराया था। सुदास ने तीस राजाओं (शिन्यु, तुर्वश, ध्रुह्यु, कवश, पुरु, अनु, भेद, शम्बर, दो वैकर्ण, यदु, मत्स्य, पक्थ, भलनस, अलीन, विषणिन, अज, शिव, शिग्रु, यक्षु, युध्यामिधि, यद्व, देवक मन्यमन, चयमन कवि, सुतुक, उचथ, श्रुत, वृद्ध, मन्यु और पृथु) को पराजित किया था

जिनमें से दस राजाओं को पराजित करना वसिष्ठ के सहयोग से संभव हुआ था। किंतु बाद में सुदास ने वसिष्ठ के बजाय विश्वामित्र को अपना पुरोहित नियुक्त कर लिया। इसके बाद विश्वामित्र ने सुदास द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराया। सद्गुरुशिष्य ने कात्यायन–कृत ऋग्वेद–अनुक्रमणिका पर एक भाष्य लिखा है। इस भाष्य में प्रसंग आता है कि उपरोक्त यज्ञ में विश्वामित्र और वसिष्ठ–पुत्र शक्ति के बीच सार्वजनिक शास्त्रार्थ हुआ जिसमें शक्ति ने विश्वामित्र को बुरी तरह परास्त कर, उनकी बोलती बंद कर दी। इस पर सुदास ने शक्ति को अग्नि में फेंककर जीवित जला दिया। इससे नाराज़ ब्राह्मणों ने सुदास के कुल के क्षत्रियों का उपनयन संस्कार कराना बंद कर दिया और वे द्विज से पतित होकर शूद्र बन गए।

इस 'कथा' को ऐतिहासिक तथ्य मान पाना कठिन है। इतना अवश्य है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के उपरोक्त साक्ष्य से शुरू में तीन ही वर्णों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। ऐसे में इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि तीनों वर्णों के वर्णच्युत लोगों से शूद्रों का चौथा वर्ण बन गया हो।

वेदों का अध्ययन–अध्यापन तथा यज्ञ करना–कराना ब्राह्मणों का विहित कर्म था। स्वाभाविक है कि सभी ब्राह्मण इसकी योग्यता अर्जित नहीं कर पाते रहे होंगे। ऐसे में यज्ञ–सम्पादन से मिलनेवाली दक्षिणा से वंचित ब्राह्मणों का जीविकोपार्जन के लिए अन्य पेशे अपनाना अपरिहार्य हो गया होगा। लिहाज़ा, वे वर्णच्युत होकर चतुर्थ वर्ण के घटक बन गए होंगे। ब्राह्मणों को दान में गाएँ बहुत मिलती थीं। उन्हें पानेवाले ब्राह्मणों के लिए सबका पालन–पोषण असंभव था। तो अपने विहित कर्म में अशक्य ब्राह्मण केवल गोपालन का कार्य करने लगे होंगे और शूद्र की श्रेणी में आ गए होंगे।

क्षत्रिय का कर्म था– क्षेत्र की रक्षा करना, जो राजकर्ता (राजन्य) में अंतरित हो गया। किंतु सभी के लिए यह कार्य उपलब्ध नहीं हो सकता था। ऐसे में बहुत से क्षत्रिय भी जीविकोपार्जन के लिए नये विकसित हो रहे चौथे वर्ण में शामिल हो गए होंगे।

वैश्यों के ज़िम्मे कृषि–कर्म और वाणिज्य–कर्म था। सामाजिक संगठन के विस्तार और विकास के साथ व्यापार का महत्त्व बढ़ता गया होगा और वे कृषि–कर्म छोड़ते गए होंगे। समाज की ज़रूरतों के विस्तार के साथ तरह–तरह की हस्त–कलाओं का विकास अनिवार्य हो गया होगा। तीनों वर्णों के बेरोज़गारों को हस्तशिल्प में नया अवसर दिखाई पड़ा होगा। शूद्रों के हाथ में धीरे–धीरे हस्तशिल्पों के अलावा कृषिकर्म भी आ गया होगा। जंगलों के प्रचुर विस्तार के चलते उन्हें साफ़कर कृषियोग्य बनाने की सुविधा के कारण कृषि के लिए ज़मीन की समस्या तब तक नहीं रही होगी।

कृषि और व्यापार दो सर्वथा अलग प्रकृति के कर्म हैं। कृषि में शारीरिक श्रम की प्रधानता होती है जब कि व्यापार में पूँजी और व्यावहारिक बुद्धि की। समाज के विकास के साथ उसके सदस्यों की आवश्यकताएँ भी बढ़ी होंगी। इसके चलते हस्त–उद्योग का क्षैतिज विस्तार हुआ होगा। इससे व्यापार को गति मिली होगी और व्यापारियों की व्यस्तता बढ़ी होगी। कृषिकर्म में उनका उत्साह घटा होगा। दूसरी ओर व्यापार से होनेवाले पूँजी–निर्माण ने उन्हें नये–नये व्यापार की ओर उन्मुख किया होगा, किंतु जो वैश्य वाणिज्य–बुद्धि से वंचित रहे होंगे, उनका व्यापार लाभप्रद नहीं हो पाया होगा, न उनमें पूँजी–निर्माण की सुविधा से नए व्यापार शुरू करने की क्षमता विकसित हुई होगी। लिहाज़ा, वे कृषिकर्म तक सीमित रह गए होंगे। कालांतर में बाक़ी दोनों वर्णों से च्युत होकर कृषि–कर्म अपनाने वालों में, वे भी शामिल हो गए होंगे।

इस तरह कृषि–कर्म और हस्तशिल्प में लगे लोगों की संख्या बढ़ती गई होगी। एक समय आया कि उनकी संख्या अन्य तीनों वर्णों की अलग–अलग संख्या से अधिक हो गई।

डॉ. अम्बेडकर सुदास–कुल के अतिरिक्त किसी अन्य कुल के उपनयन संस्कार से वंचित होने के कारण क्षत्रिय वर्ण से शूद्र वर्ण में अंतरित होने का प्रमाण नहीं देते। वे सिर्फ़ एक उदाहरण से मान लेते हैं कि सभी शूद्र ऐसे ही ब्राह्मण–द्वेष के कारण क्षत्रिय से शूद्र में अंतरित हुए होंगे। ऐसे में शूद्रों की संख्या के

विस्तार का तथ्य अम्बेडकर के प्रमेय में अव्याख्यायित रह जाता है, बल्कि तथ्य के धरातल पर असंभाव्य भी लगता है।

उपरोक्त परिवर्तन से सारा उत्पादन कार्य शूद्र वर्ण का दायित्व बन गया। भिन्न–भिन्न शिल्पों में महारत के चलते वह आनुवंशिक होता गया और उनमें जातियों पर जातियाँ बनती गईं। इनमें से कुछ शिल्पकारों की प्रतिष्ठा ब्राह्मणों और क्षत्रियों से कम नहीं थी। जैसे वास्तुकला, दुर्ग–निर्माण और बाद में मंदिर–निर्माण एवं मूर्तिकला के विकास के साथ उनमें प्रवीणता प्रतिष्ठा का आधार बन गई। इसी तरह रथ–निर्माण कला में निष्णात शूद्रों का भी असाधारण सम्मान था।

यहाँ यह धारणा कि शूद्रों का कर्म केवल शेष तीनों वर्णों की सेवा करना है, शुद्ध बकवास है, यह महज़ स्मृतिकारों की आकांक्षा की देन हो सकता है, जो व्यवहार में कभी नहीं उतरा। दरअसल दास और शूद्र शब्दों के अर्थ में काफ़ी भ्रम रहा है। संस्कृत में दास माने गुलाम नहीं, सेवक या नौकर होता है। वह किसी भी वर्ण का हो सकता है। गुलामी की प्रथा भी प्रचलित थी किंतु वह वर्ण–निरपेक्ष और जाति–निरपेक्ष थी। कभी–कभी आर्थिक संकट में पड़े परिवार अपने किसी सदस्य को बेच देते थे या बंधक रख देते थे। कभी–कभी तो आदमी स्वयं को बेचने या बंधक रखने को बाध्य हो जाता था, जैसे राजा हरिश्चंद्र स्वयं को डोम के हाथ बेचने को मजबूर हुए थे। ऐसे दास क्रीतदास कहे जाते थे और वे स्वयं अपने अर्जन से आवश्यक धन का भुगतान कर मुक्त हो सकते थे या कोई अन्य भुगतान करके उन्हें मुक्त करा सकता था। कौटिल्य ने इस समस्या के बारे में समुचित विचार करने के बाद क्रीतदासों के साथ होनेवाले अन्याय को दंडित करने का विधान बनाया था (अर्थशास्त्र, खंड–3, अध्याय–13)।

शूद्र का क्रीतदास से उतना ही सम्बंध था जितना किसी अन्य वर्ण का। अन्य वर्णों की तरह वह क्रीतदास बन सकता था तो क्रीतदास ख़रीदकर रख भी सकता था– किसी भी वर्ण के व्यक्ति को।

जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ उनकी स्थिति को इंगित करता है, वैसे ही शूद्र शब्द का भी व्युत्पत्तिमूलक अर्थ उनकी स्थिति को इंगित करता है। (शुच्+रक्) शोचति इति शूद्रः। चूँकि कोई व्यक्ति अपने मूल वर्ण में अवसर के अभाव के चलते, मुख्यतः आर्थिक कारण से, उसे छोड़कर वह (प्रकीर्ण) शूद्र वर्ण में शामिल हुआ था, वह उस बिंदु पर असमंजस और अस्थिरता के चलते दुःखी रहा होगा, इसलिए वह शूद्र कहा गया। यह स्थायी स्थिति नहीं थी। किंतु एक बार नामकरण हो जाने के बाद वही चलता रहता है।

प्रकीर्ण वर्ण में आने के बावजूद शूद्र सामाजिक संगठन से बहिष्कृत नहीं हुआ, जैसा प्रतिलोम शारीरिक सम्बंधों से उत्पन्न संततियों के साथ हुआ (आगे देखिए)। वेदोत्तर काल में शूद्रों का प्रतिनिधि भी राजा के राज्याभिषेक समारोह में एक 'रत्नी' की हैसियत से भाग लेता था। दरअसल रत्नी द्वारा धारण किया जानेवाला रत्न संप्रभुता का प्रतीक था। राजा को संप्रभुता तभी प्राप्त होती थी जब शूद्र सहित राज्य के सभी रत्नी उसे अपना रत्न समर्पित कर देते थे। उसके बाद शूद्र सहित हर वर्ण के प्रतिनिधि पवित्र जल से राजा का अभिषेक करते थे। बाद में राजा हर रत्नी के घर जाकर उसे समुचित उपहार देता था (Hindu Polity, के पी जायसवाल, 1943, पृ. 200–201)। महाभारत में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक इसी विधि से हुआ था (महाभारत, सभा पर्व, अध्याय–33, श्लोक–41–42)।

महाभारत के शांतिपर्व में युधिष्ठिर को मंत्रियों के चयन के बारे में उपदेश देते हुए भीष्म कहते हैं– मंत्रिपरिषद में चार वेदज्ञ ब्राह्मण, आठ शस्त्र–कुशल और बलवान क्षत्रिय, बीस सम्पन्न वैश्य, तीन शुद्ध व्यवहार वाले तथा कर्तव्यपरायण शूद्र तथा एक पुराणज्ञाता एवं गुणी सूत होना चाहिए।

शूद्र निर्धन नहीं थे। मैत्रायणी संहिता (VI. 2.7.10) और पंचविम्स ब्राह्मण (VI.1.11) में धनधान्य से सम्पन्न शूद्रों का उल्लेख हुआ है। मेरे बचपन तक यह पारम्परिक सम्पन्नता चली आई थी। मेरे जँवार में दो सबसे बड़े काश्तकार वर्मा (कुर्मी) थे और उनमें से एक के परिवार में पहले देशी चीनी (बूरा) बनाने का

हस्त–उद्योग चलता था। इस नाते वह (डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर के अनुसार) इलाक़े का एकमात्र आयकर–दाता था।

एक विडम्बनात्मक संयोग के तौर पर जाति–प्रथा ने हस्त–कौशल के युग में भारत को विश्वबाज़ार का विशाल हिस्सा अर्जित करने और एक उन्नत निर्यातक देश बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आनुवंशिक पेशे और व्यवसाय ने रोज़गार की अनिश्चितता से मुक्त और जीविका की सुरक्षा से लैस एक स्थिर आर्थिक परिवेश प्रदान किया। पीढ़ी–दर–पीढ़ी एक ही कार्य करते हुए उत्तरोत्तर कुशलता हासिल करने का अवसर भी। यही कारण है कि विश्व–बाज़ार में, ख़ासकर यूरोपीय बाज़ार में, यहाँ पैदा होनेवाले तथा पूर्वी द्वीप समूह से आनेवाले मसालों के व्यापार पर भारत का एकाधिकार था। ये मसाले यूरोप की जलवायु में पैदा न होने से इनका निर्यात बहुत लाभप्रद था। इसी तरह भारतीय जलवायु में पैदा होने वाले किन्तु यूरोप की जलवायु में न पैदा होनेवाले चावल, गुड़, देशी चीनी, नील, शोरा, मोती और समुद्र से प्राप्त रत्नों तथा भारत में बने उच्च कोटि के लोहे के औज़ारों (मेहरौली का लौह–स्तम्भ भारतीय भट्टियों में तैयार होनेवाले लोहे की अपूर्व गुणवत्ता का एक उदाहरण है) हाथीदाँत की वस्तुओं, सूती और रेशमी वस्त्रों जैसे हस्त–उद्योग के उत्पादों के निर्यात पर भारत का लगभग एकाधिकार क़ायम हो गया था। मसाले और सिल्क मार्ग से अरब व्यापारियों के ऊंटों के कारवाँ सीधे कुस्तुन्तुनिया पहुंचते थे। साथ ही, समुद्र के तटीय मार्ग से अरबों की नौकाएँ (लालसागर के रास्ते) सारा माल अलेक्जेंड्रिया और वहाँ से कुस्तुनतुनियाँ की मंडी तक ले जाती थीं। वहाँ के अरब और यूरोपीय व्यापारियों में लेन–देन से यह माल यूरोप के विभिन्न देशों में पहुँचता था।

भारतीय, और भारत से होकर यूरोप जानेवाले पूर्वी द्वीपों के मसाले के बिना उस युग के यूरोपियों का जीवन दूभर था। बर्फ़ पड़ने से चारागाह ढक जाने के कारण जाड़े के मौसम की शुरुआत में वे अपने जानवरों के एक बड़े हिस्से को मारकर उनके मांस को मसालों में सिझाकर रख लेते थे और जाड़े भर वही उनका आहार होता था। जाड़ा समाप्त होने के बाद ही वे अपने शेष पशुओं को लेकर चरागाहों की ओर निकलते थे और उनकी वृद्धि करते थे। वहाँ की जलवायु में न कपास हो सकती थी, न चावल या गन्ना पैदा हो सकता था, न ही रेशम के कीड़े पल सकते थे। केवल चमड़े और ऊन के वस्त्र बनते थे जो गर्मी के दिनों और सामंतों व दरबारों की शान–ओ–शौकत के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। उनके सामंतों और दरबारों की सारी शान–ओ–शौकत भारत से निर्यात होनेवाले मलमल और भारत व चीन से निर्यात होनेवाले रेशमी वस्त्रों पर निर्भर थी। भारत का निर्यात–अधिशेष इतना अधिक था कि अधिकांश मूल्य सोने–चाँदी के रूप में आता था। केरल में हुई एक खुदाई में रोमन काल के सोने के सिक्कों का एक भंडार मिला है। आख़िर पद्मनाभ मंदिर में इतना सारा सोना आया कहाँ से होगा कि तमाम कोशिशों के बावजूद उसकी मात्रा का हिसाब–किताब नहीं हो सका। केरल के बंदरगाहों से देश में उत्पादित और पूर्वी द्वीपसमूहों से आये मसालों के व्यापार के सिलसिले में ईसा की शुरुआती शताब्दियों में यहूदी और ईसाई व्यापारियों की बस्तियाँ आबाद हो गई थीं। एक अंतराल के बाद अरब व्यापारी भी आकर वहाँ बस गए थे। भारत की निर्यात श्रृंखला में अरबों का दाख़िला पूर्व–इस्लामिक है। रोमन सिनेट काल (ई.पू.) में सिनेट के एक राजकीय आदेश का उल्लेख मिलता है जिसमें यह ताकीद की गई थी कि रोमन महिलाएँ सार्वजनिक स्थलों पर भारतीय मलमल न पहनें (वह इतना बारीक होता था कि सार्वजनिक मर्यादा भंग होने की आशंका उत्पन्न हो गई थी)। पूर्व–राफेल युग के चित्रों में महिलाओं के जो भव्य परिधान दिखते हैं, वे सब भारतीय मलमल की देन हैं।

इसी निर्यात से संग्रहीत विपुल सम्पत्ति की लूट के लिए ही बाहरी आक्रांता बार–बार आक्रमण करते रहे। इस्लाम के प्रादुर्भाव के बाद, सातवीं शताब्दी से अरबों के हमले पश्चिमी तट के बंदरगाहों––भरूच, केलात और देवल की खाड़ी (सिंध)– में होने लगे थे। सिंध के एक बंदरगाह पर अरब और स्थानीय व्यापारियों के बीच हुई झड़प से नाराज़ ईराक के सूबेदार अलहज्जाज ने कई बार हमले किए किंतु सिंध के राजा दाहिर से परास्त हुआ। अंततः ख़लीफ़ा की ओर से आक्रमण के लिए भेजे गए मुहम्मद इब्न कासिम द्वारा किये गए 708–711 ई. के हमलों में, विश्वासघातियों के हमलावर से मिल जाने के कारण, दाहिर लड़ते हुए मारा गया और सिंध में ख़लीफ़ा का राज्य क़ायम हो गया।

(5)

हस्तकौशल की आनुवंशिकता से उद्भूत भारतीय समृद्धि का आकलन : लूटों का सिलसिला

प्लासी युद्ध के नायक रॉबर्ट क्लाइव पर जब ब्रिटिश संसद में मुक़दमा चला (1773), उसने अपने बचाव में कहा––"महोदय, मुझे तो अपने संयम पर आश्चर्य होता है, कि मैंने इतना ही क्यों लिया, मेरे सामने तो नवाब (मीर जाफ़र) का पूरा ख़ज़ाना खुला पड़ा था और मुझसे कहा गया था, जितना चाहिए, ले लीजिए.. .." यह हाल था 1757 में, गद्दारी से बंगाल के नवाब बने मीर जाफ़र के मुर्शिदाबाद ख़ज़ाने का– मध्यकाल के शुरु में और मध्यकाल के दौरान बीच–बीच में होने वाली ऐतिहासिक लूटों के बाद।

मध्यकाल की लूट शुरू होती है सन् 977 से। उस साल ग़ज़नी के तुर्क–अफ़गान शासक सबुक्तगीन ने उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत की ओर से आक्रमणकर लूटपाट शुरू की। सबुक्तगीन के पुत्र महमूद ग़ज़नी (शा.का. 998–1030) ने 1001 में पंजाब के राजा जयपाल को पेशावर के निकट इस बुरी तरह परास्त किया कि उस स्वाभिमानी राजा ने अपने पुत्र आनंदपाल को गद्दी सौंपकर आत्मदाह कर लिया। महमूद ग़ज़नी ने आनंदपाल को भी मुल्तान में हरा दिया। उसके बाद उसने भारत में लूटपाट के उद्देश्य से 17 बार आक्रमण किया। मथुरा के मंदिर को लूटकर जला दिया, फिर कन्नौज, ग्वालियर, कालिंजर को जीतने और लूटने के बाद 1025 में सोमनाथ के विशाल और अति–समृद्ध मंदिर को लूटकर ध्वस्त कर दिया।

मुस्लिम राज्य क़ायम होने के बाद भी काफ़ी समय तक लूटपाट जारी रही और राज्य–विस्तार के लिए लड़े गये युद्धों में सर्फ़ होती रही। सुल्तान बनने के पहले ही अलाउद्दीन ने कड़ा के सूबेदार के रूप में विंध्य को पारकर, दक्षिण के समृद्ध राज्य यादवों के देवगिरि पर आक्रमण किया और वहाँ से सोने, चाँदी, रेशम, मोतियों और बहुमूल्य रत्नों का विशाल भंडार लेकर वापस लौटा। अपने चाचा एवं श्वसुर सुल्तान जलालुद्दीन को धोखे से मारकर, लूटे हुए धन के एक हिस्से के उपयोग से ही अलाउद्दीन गद्दी हथियाने में सफल रहा। सुल्तान बनने के बाद उसने गुजरात पर आक्रमण कर वहाँ के समृद्ध बंदरगाहों सहित पूरे राज्य को लूटपाट से रौंद डाला। वहाँ से वह विपुल सम्पत्ति, हिजड़ा मलिक काफ़ूर (इस्लाम स्वीकार करने के बाद का नाम) और राजा कर्णदेव की रूपवती रानी कमला देवी को साथ लेकर लौटा; बाद में कमला देवी से उसने विवाह कर लिया। रणथम्भोर तथा मेवाड़ को जीतने के बाद उसने दक्षिण में मुख्यतः सम्पत्ति की लालसा में मलिक काफ़ूर के नेतृत्व में विशाल सेना भेजकर, वारंगल के काकतीय नरेश प्रतापरुद्र देव को परास्त कर, सौ हाथी, सात हज़ार घोड़े, विपुल मात्रा में हीरे–जवाहरात और सोने के ढ़ले हुए सिक्के सौंपने को बाध्य किया। फिर मलिक काफ़ूर ने होयशलों की राजधानी द्वारसमुद्र पर आक्रमण कर राजा को छत्तीस हाथी देने पर बाध्य किया और मंदिरों से इफ़रात सोना, चाँदी और रत्नभंडार लूटा। धुर दक्षिण में पांड्य राज्य की राजधानी मदुरा को जीतकर मलिक काफ़ूर उस राज्य के मंदिरों को लूटता हुआ रामेश्वरम् तक जा पहुँचा। इस बार के अभियान से लौटते समय (अमीर खुसरो के अनुसार) उसके पास लूट के छः सौ बारह हाथी, बीस हज़ार घोड़े, छियानबे हज़ार मन सोना, पाँच सौ मन हीरे, मोती, पन्ना और लालमणि तथा मोतियों से भरे कई संदूक थे। हर युद्ध का उद्देश्य विजय के बाद शाही सेना द्वारा राजकीय कोष के लिए और, जहाँ मौक़ा मिले, सैनिकों के निजी लाभ के लिए, लूटपाट करना निश्चित था।

औरंगज़ेब की मृत्यु (1707) के साथ ही बड़े मुग़लों के शासन का अंत हो गया और छोटे मुग़लों के आने के साथ ही अशक्त साम्राज्य का विश्रृंखलन शुरू हो गया। मुग़ल बादशाह मुहम्मद शाह के समय लूट के लिए आनेवाले ईरानी लुटेरे नादिरशाह ने दिल्ली के कुख्यात नरसंहार के बाद लौटते समय मुग़ल ख़ज़ाने से पंद्रह करोड़ रुपयों के साथ, हीरे–जवाहरात, वस्त्र, साजोसामान और अन्य बहुमूल्य चीजें, तीन सौ हाथी, दस हज़ार घोड़े, दस हज़ार ऊँट, मुग़ल ताज के कोहेनूर सहित सारे जवाहरात और शाहजहाँ का बनवाया तख़्ते–ताऊस भी उठा ले गया। साथ में हिंदू संगीत पर फ़ारसी में लिखी एक चित्रित पुस्तक की विख्यात पांडुलिपि भी। दस्तावेज़ी सबूत हैं कि उसने बाज़ारों और गाँवों को लूटने के लिए नियमित फ़ौजी दस्ते तैनात किए थे।

नादिरशाह के बाद आनेवाले अफ़ग़ान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली ने 1761 में निर्णायक पानीपत का (तीसरा) युद्ध जीतने के पहले 1748 से शुरूकर कुल पाँच बार आक्रमण किया था और इन आक्रमणों में भूक्षेत्र जीतने के अलावा दिल्ली सहित कई नगरों को बार–बार लूटा था।

यह सारी लूट भारत के उस युग के उन्नत हस्तशिल्प और कृषि–उत्पाद के निर्यात से संग्रहीत सम्पत्ति की थी जिसमें जाति–प्रथा के विडंबनात्मक योगदान के रूप में दुनिया का सर्वोत्तम माल बन रहा था।

किंतु इस लूट के बावजूद देश कंगाल नहीं हुआ। मुस्लिम शासकों ने भारत के उन्नत हस्तशिल्प से होनेवाले उत्पादन और निर्यात को सुरक्षित रखा। यूरोपीय राष्ट्र अभी भी भारत के बहुमूल्य आयात पर निर्भर रहे। देश को कंगाली के कगार पर लाने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा की गई व्यवस्थित लूट और यहाँ का हस्तशिल्प उद्योग पूरी तरह नष्ट करने का काम अभी शेष था।

वस्तुतः ईस्ट ईंडिया कम्पनी का भारत आगमन ही भारत की मुग़लकालीन समृद्धि से जुड़ा था। इतिहास की एक विचित्र विडम्बना। ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना (1600) के पीछे विश्व–इतिहास की एक ऐसी गुत्थी है जिसका खुलासा इतिहास में कम ही मिलता है।

ख़लीफ़ा–शासित अरब पर उन्हीं मध्य एशियायी तुर्कों ने आक्रमण किया जिन्हें अरब की इस्लाम–उत्प्रेरित सेना ने इस्लाम में दीक्षित किया था। नये–नये मुसलमान बने तुर्क क़बीले अरब साम्राज्य की विजय पर निकल पड़े– पहले सेलजुक़, फिर मामलुक और अंत में उस्मानी (Ottomon) तुर्क। उस्मानी तुर्क एशिया से उत्तरी अफ़्रीका तक फैले पूरे अरब साम्राज्य पर आधिपत्य स्थापित करने में सफल रहे। अपने सीमित दायरे से पहली बार बाहर निकले, इस्लाम की नई ऊर्जा से छलकते ये तुर्क अरब–विजय के बाद पूर्वी यूरोप की ओर मुड़े और बाइजेंटियम (पूर्वी रोमन) साम्राज्य की राजधानी कुस्तुंतुनिया पर घेरा डाल दिया। सात दिन की घेराबंदी के बाद बाइजेंटियम की रक्षा–पंक्ति टूट गई (29.05.1453) और उस्मानी तुर्क भरभराकर यूरोप में घुस गए। बाद में आस्ट्रिया की राजधानी वियेना के फाटक तक पहुँचने के बाद ही उन्हें यूरोपीय देशों के गठबंधन द्वारा रोका जा सका। कुस्तुंतुनिया की मंडी अरब व्यापारियों के वर्चस्व में थी, जो अब उस्मानी तुर्कों से पराजित उनके दुश्मन थे और अब भी खिलाफ़त की संस्था दबाए बैठे थे जिस पर उस्मानी तुर्कों की गिद्ध–नज़र लगी थी। लिहाज़ा तुर्कों ने कुस्तुंतुनिया की मंडी बंद कर दी। ऊंटों के कारवाँ से गुलज़ार रेशम और मसाले के मार्ग सूने पड़ गए। भारत का माल यूरोप जाना और यूरोप से सोना–चाँदी भारत आना बंद हो गया। यूरोप में तहलका मच गया। यूरोपियों के लिए हिंदुस्तान के समुद्री मार्ग की खोज जीने–मरने का सवाल बन गई। तब तक मालूम हो चुका था कि दुनिया गोल है। इसलिए पूरब और पश्चिम दोनों ओर से हिंदुस्तान का समुद्री मार्ग खोजने की कोशिश जी–जान से शुरू हो गई। ब्रिटेन अभी तक इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, वेल्स और आयरलैंड के आपसी झगड़ों में फँसा महज़ एक उभरती ताक़त था; स्पेन और पुर्तगाल ही यूरोप की दो महाशक्तियाँ थीं। हिंदुस्तान का समुद्री मार्ग खोजने के लिए इन्हीं दोनों में प्रतिद्वंद्विता थी। इसके लिए पूरब से आगे बढ़ता स्पेन का कोलम्बस अमेरिका पहुँच गया(12.10.1492), जिसे वह हिंदुस्तान समझ बैठा। व्यापार के साथ–साथ स्पेन वहाँ उपनिवेश बनाने दौड़ पड़ा। बाद में मालूम हुआ वह तो एक नई दुनिया है। दोनों महाशक्तियों में टकराव न हो, इसलिए पोप सिकंदर चतुर्थ ने एक पापल बुल जारी कर दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया (04.05.1493); पूरब का हिस्सा पुर्तगाल और पश्चिम का स्पेन के लिए (जैसे पोप महोदय को पूरी दुनिया पर प्रभुत्व प्राप्त हो)। उन्हें दोनों तरफ़ से भारत को खोजना था और जो भी हिस्से मिलें उन पर अपने–अपने क़ानूनों के अनुसार राज करना था, केवल व्यापार के लिए पूरे यूरोप के ईसाई जगत् को छूट देनी थी। पुर्तगाल का वास्को डि गामा कालीकट पहुँचा (20.05.1498) और यही हिंदुस्तान, बल्कि एशिया के पराभव और योरोप के उत्थान का बीज–बिंदु साबित हुआ। समुद्री व्यापार से अर्जित समृद्धि के सहारे और उससे उपजे आत्म–विश्वास से ही यूरोप में पुनर्जागरण आया, ज्ञानोदय हुआ और पूर्व के साथ व्यापार से हो रही अंधाधुंध कमाई से अर्जित पूँजी–अधिशेष के निवेश से वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग कर औद्योगिक क्रांति सम्पन्न हुई। इस तरह उपनिवेश युग का प्रारम्भ हुआ

और धीरे–धीरे हिंदुस्तान का प्राचीन और उन्नत हस्तशिल्प और उससे जुड़ा स्वदेशी व्यापार–तंत्र पूरी तरह नष्टकर उसे इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कच्चे माल का उत्पादक और तैयार माल के बाज़ार में बदल दिया गया। बेरोज़गार हुए शिल्पी, जिन्हें कभी ज़मीन का जुगाड़ कर खेती करने की ज़रूरत नहीं महसूस हुई थी, भूमिहीन, खेत–मज़दूर बन गए। खेती पर भार बढ़ गया। लिहाज़ा, विश्व–व्यापार में हिंदुस्तान का हिस्सा सिकुड़ते–सिकुड़ते भुगतान–अधिशेष उलट गया। हिंदुस्तान अँधेरे में डूब गया और यूरोपीय सभ्यता विश्व सभ्यता बन गई। सीमित हुए संसाधनों की छीनाझपटी में जाति–व्यवस्था अपने क्रूरतम, अमानुषिक रूप में सामने आ गई।

(6)

वर्णगत-सोपानीकरण

पहले आ चुका है कि प्राचीन भारतीय समाज के पेशे धीरे–धीरे कैसे आनुवंशिक हुए और कर्मानुसार तीन वर्णों– ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकृमें विभक्त हो गए। यह भी कि कैसे इन्हीं तीन वर्णों से कर्मणा विरत होनेवालों से चौथा प्रकीर्ण वर्ण–शूद्र–उत्पन्न हो गया और वैश्यों के लिए विहित कृषि–कर्म तथा नए–नये विकसित होते सारे हस्तशिल्प उसके कार्यक्षेत्र में आ गए। यद्यपि उत्पादन का सारा कार्य इसी चौथे वर्ण के कंधों पर था, तीनों वर्णों से टूटकर आने के कारण इस वर्ण की सामाजिक मान्यता तीनों के बाद निर्धारित हुई। वेद पढ़ने–पढ़ाने और यज्ञ करने–कराने का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में होने से, भौतिक स्थिति में कमज़ोर होने के बावजूद, चार वर्णों के सोपानीकरण में उनका स्थान सर्वोपरि रहा। क्षेत्र की रक्षा और राज–कर्म में लगे क्षत्रियों (राजन्यों) का स्थान प्रकृत रूप से दूसरा, व्यापार एवं पूँजी–संचय में लगे वैश्यों का तीसरा और वर्ण–विचलन से प्रकीर्ण रूप से बने शूद्रों का चौथा। एक दृष्टि से यह विभाजन शक्ति–संतुलन की तरह भी काम करता था और राजाओं की निरंकुशता पर लगाम लगाता था। यह भी आ चुका है कि वर्ण–व्यवस्था में चौथा स्थान होने के बावजूद नए राजा के पदस्थ होते समय 'रत्नी' के रूप में शूद्रों के मुखिया की भी सहमति–सूचक उपस्थिति होती थी। पदास्थापित होने वाले राजा को संप्रभुता के प्रतीक के रूप में अन्य वर्णों की तरह उसके द्वारा भी रत्न–दान और बाद में राजा द्वारा उसके घर जाकर उपहार देना आवश्यक था। यही नहीं, मंत्रिमंडल में भी कर्तव्यपरायण शूद्रों को शामिल करने की परंपरा थी। सत्ता–संरचना में शूद्रों के भाग लेने का ही परिणाम रहा होगा कि वंशानुगत हस्तकौशल में विशेषज्ञता से आये गुणात्मक निखार के चलते उसके उत्पाद के व्यापार एवं निर्यात से होने वाली प्रभूत आय में उन्हें भी उचित हिस्सा मिलता रहा। परिणामस्वरूप, सामान्य जनसमुदाय में खुशहाली बनी रही। यूरोप के विपरीत भारत में कृषिभूमि सिद्धांततः मुकुट की नहीं थी कि लॉर्ड और वासल के पिरामिड में बंधे सामंत के स्वामित्व में किसान को भूदास की तरह काम करना पड़ता। कृषि योग्य ज़मीन पर कृषक का स्वामित्व था और राजा का अधिकार सुरक्षा एवं व्यवस्था बनाए रखने के एवज में उत्पाद का छठा हिस्सा पाने तक सीमित था जो प्राकृतिक आपदाओं में फ़सल को नुक़सान पहुँचने पर स्वतः कम हो जाता था। सार्वजनिक उपयोग की ज़मीनें, जैसे चरागाह, तालाब, सिंचाई के लिए उपयोगी जलखात और शेष रह गए जंगल राजा के नाममात्र के स्वामित्व में सबके मुक्त उपयोग के लिए उपलब्ध थे। बाद में ब्राह्मणों ने शूद्रों को उपनयन संस्कार से वंचित कर दिया जिससे द्विज और अद्विज का भेद सामने आया। किंतु अन्य संस्कारों के लिए उनके गुरु और पुरोहित का कार्य ब्राह्मण ही करते रहे। आज तक करते आ रहे हैं।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों में वरीयता को लेकर लम्बा संघर्ष चला। वशिष्ठ और विश्वामित्र इसके आदि प्रतीक हैं। इस संघर्ष के मुख्यतः दो बिंदु थे–

1. ब्राह्मण मानते थे कि ब्राह्मणों की तरह वेद पढ़ने का अधिकार क्षत्रियों को भी था किंतु वेद पढ़ाने का अधिकार केवल ब्राह्मणों का था। विश्वामित्र ब्राह्मणों की तरह ही क्षत्रियों के भी दोनों अधिकारों के पक्षधर थे।

2. ब्राह्मणों के अनुसार यज्ञ कराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों का था, क्षत्रिय केवल यज्ञ कर सकता, करा नहीं सकता था। विश्वामित्र क्षत्रियों को भी यज्ञ कराने का अधिकारी मानते थे और उन्होंने कई यज्ञ कराए भी थे।

इस सन्दर्भ में पौराणिक आख्यानों में वसिष्ठ और विश्वामित्र के द्वंद्व का बहुत भयानक रूप सामने आता है। वसिष्ठ की गाय कामधेनु को लेकर दोनों में विकट संघर्ष हुआ। इसी संदर्भ में त्रिशंकु की कथा आती है जिसे विश्वामित्र उसकी इच्छानुसार जीवित स्वर्ग भेजना चाहते थे किंतु वह बीच में ही लटका रह गया। सत्यव्रती राजा हरिश्चंद्र की कथा आती है जिनके गुरु वसिष्ठ थे किंतु विश्वामित्र ने छल से उनका राज्य और सारी सम्पत्ति हस्तगत कर ली, यहाँ तक कि उन्हें स्वयं को डोम के हाथ बेचना पड़ा। यही ब्राह्मण–क्षत्रिय संघर्ष सुदास के क्षत्रिय से शूद्र बनने की कथा से भी जुड़ा हुआ है जिसके आधार पर डॉ. अम्बेडकर ने शूद्रों की उत्पत्ति का अपना प्रमेय प्रस्तुत किया है। पूर्व में उस पर विचार हो चुका है। एक कथा के अनुसार परशुराम ने क्षत्रियों का इतने बड़े स्तर पर संहार किया कि धरती क्षत्रिय–विहीन हो गई। ब्राह्मणों का एक वर्ग मानता है कि कलियुग में क्षत्रिय का अस्तित्व ही नहीं है और आज उपलब्ध क्षत्रिय वस्तुतः पुराने क्षत्रिय नहीं, 'राजपूत' हैं जो शक, कुषाण हूण, गुर्जर, प्रतिहार आदि आक्रांताओं की संतानें हैं जिन्हें कुछ ब्राह्मणों ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ संपादित कर अग्निकुंड से उत्पन्न मान लिया और उन्हें प्राचीन क्षत्रियों के गोत्र दे दिये। ये और ऐसी अनेक कथाएँ' शुद्ध पौराणिक (मिथकीय) हैं और इनसे इतना ही इंगित होता है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में श्रेष्ठता के लिए प्रतिद्वंद्विता रही होगी। ब्राह्मण यज्ञवादी थे और वेदों के कर्मकांड को अपनाकर उन्होंने ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की। वेदों का कर्मकांड ही बाद में पूर्वमीमांसा दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। एक अनुमान के अनुसार क्षत्रियों ने वेदों के ज्ञानकांड को अपनाया और उपनिषदों की रचना की, महात्मा बुद्ध भी एक क्षत्रिय गणराज्य में उत्पन्न हुए थे; उन्होंने उपनिषदों की धारा से ही बौद्ध–दर्शन विकसित किया। फ़िलहाल इस विषय पर विस्तार में जाना प्रासंगिक नहीं है। एक रहस्यमय और आश्चर्यजनक तथ्य अवश्य है कि वर्तमान में क्षत्रिय/राजपूत केवल उत्तर भारत और राजस्थान में पाए जाते हैं। बंगाल, आसाम, महाराष्ट्र, आंध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल में इनका कोई सुराग़ ढूँढ़ना असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही।

वर्ण–व्यवस्था के सम्बंध में सबसे पहला जो प्रश्न उठता है वह है वर्ण शब्द का शाब्दिक अर्थ। क्या चारों वर्णों के लोग चार भिन्न रंगों (निहितार्थः चार भिन्न नस्ल) के थे? या केवल शूद्र अन्य से भिन्न रंग के थेकृऐसे में तो दो ही वर्ण होने चाहिए थे, जब कि पहले तीन, फिर चार वर्ण वजूद में आ गए। वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद काल से ही भारतीय समाज में भिन्न–भिन्न रंग–रूप के लोगों का संदर्भ मिलने लगता है। ऋग्वेद के पहले मंडल के 117 वें सूक्त की आठवीं ऋचा में श्याव्य और रुशती के विवाह का उल्लेख है, श्याव्य श्याम रंग के थे और रुशती गोरे रंग की। दूसरे मंडल के तीसरे सूक्त की नवीं ऋचा देवों की स्तुति में अन्य गुणों के साथ पिशंग (ताँबई) रंग के पुत्र की कामना करती है। राम और कृष्ण, जिन्हें अवतार की मान्यता मिली, श्याम रंग के थे। महाभारत काल की द्रौपदी भी श्याम रंग की असाधारण सुंदरी के रूप में विख्यात है, उसका एक नाम कृष्णा भी था। ऋग्वेद के सूक्तों के रचयिता ऋषि (कवि) दीर्घतमस श्याम रंग के थे। एक अन्य प्रसिद्ध ऋषि कण्व भी श्याम रंग के हुए। आज भी सभी वर्णों में समान रूप से गोरे, काले, गेहुँए, भिन्न–भिन्न रंगों के लोग दिखाई पड़ते हैं। अस्तु, वर्ण–विभाजन का आधार रंग (यानी नस्ल) नहीं हो सकता। संस्कृत में वर्ण का एक अर्थ वंश या श्रेणी भी होता है और वही यहाँ उद्दिष्ट लगता है।

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'Who were the Shudras' में सर हर्बर्ट रिस्ले (Sir Herbert Risley) द्वारा 1901 में किए गए भारत के मानववैज्ञानिक (Nthropometrical) सर्वेक्षण के परिणामों का उल्लेख किया है। रिस्ले के अनुसार भारत में चार नस्लों के लोगों का मिश्रण पाया जाता है– आर्य, द्रविड, मंगोल और सीथियन (Scythian)। रिस्ले ने उन इलाक़ों को भी चिह्नित किया है जहाँ इस मिश्रण में नस्ल विशेष का प्राधान्य पाया गया। डॉ. विराज संकर गुहा (1894–1961) ने 1936 में रिस्ले के सर्वेक्षण का गहन मूल्यांकन करने के बाद भारत का एक मानववैज्ञानिक मानचित्र बनाया, जो फ़िलहाल मुझे उपलब्ध नहीं है। विस्तार में

न जाकर, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मानववैज्ञानिक सर्वेक्षण भी भारतीयों की मिश्रित नस्ल के प्रमेय को पुष्ट करता है।

ऐतिहासिक युग में सिकंदर के आक्रमण के ज्ञात समय के बाद सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप क्या था? अधिकांश इतिहासकार मानते हैं कि चंद्रगुप्त मौर्य (जो कई साक्ष्यों के अनुसार मुरा नाम की दासी से शूद्रवंशीय नंद का पुत्र था) ने केवल 24 वर्ष (322 / 24–298 / 300 ई.पू.) राज्य किया और बाद में जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इसके बावजूद उसने यज्ञ–क्रिया और आखेट नहीं छोड़ा, जिसका उल्लेख अशोक के आठवें शिलालेख में मिलता है। अंततः चंद्रगुप्त ने जैन धर्म के प्रभाव में राज त्याग दिया और अपने अंतिम दिन श्रवण बेलगोला (ज़िला हासन, कर्नाटक) में व्यतीत किए, जहाँ प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली की विशाल प्रतिमा स्थापित है। किंतु उसके पुत्र बिंदुसार (300 / 298–269 ई.पू.) के जैन होने का कोई प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिलता। हरिवंश पुराण के अतिरिक्त एक बौद्ध स्रोत के अनुसार भी वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी बना रहा।

अशोक ने कलिंग युद्ध (261 ई.पू.) के बाद निश्चय ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। 258 ई.पू. में उसने एक राज्यादेश से राजकीय आखेट की परंपरा बंद कर दी और बौद्ध–धर्म के प्रचार–प्रसार तथा जनकल्याणकारी कार्यों में तन्मयता से लग गया। किंतु उसके किसी आचरण से धार्मिक असहिष्णुता या ब्राह्मण धर्म से विद्वेष का संकेत नहीं मिलता। उसके शासनकाल में बौद्ध श्रमणों (भिक्षुओं), संघों और विहारों का महत्व ज़रूर बढ़ा होगा किंतु वर्ण और जाति की दीवारें टूट गई होंगी, ऐसा मानना अतिकथन होगा। अशोक का शासन रहा ही कितने दिन? अशोक की मृत्यु (232 ई.पू.) के बाद मौर्य साम्राज्य का विघटन शुरू हो गया। अहिंसा पर ज़ोर देने और युद्ध से विरत होने (अशोक ने भेरीघोष को धम्म–घोष में बदल दिया था) के कारण मौर्य सेना के मनोबल और उसकी क्षमता पर निश्चय ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होगा।

अशोक का उत्तराधिकार उसके कई पुत्रों में से संभवतः किसी को नहीं मिला, बल्कि उसके दो पौत्रों– दशरथ और संप्रति– के बीच बँट गया, दशरथ को साम्राज्य का पूर्वी हिस्सा और संप्रति को पश्चिमी हिस्सा मिला। इन दोनों के बाद मौर्यवंशीय शासक शालिशूक का नाम आता है, जिसे पुराण एक दुष्ट और कलह–प्रिय राजा बताते हैं। शालिशूक के बाद क्रमशः देववर्मन्, शतंधनुष और बृहद्रथ का नाम आता है किंतु उन्होंने क्या किया, क्या नहीं, सब अज्ञात है। इसी दौर में यूनानियों ने गांधार (उत्तर–पश्चिमी सीमाप्रांत) और शाकल (उत्तरी और मध्य पंजाब) में अपना शक्तिशाली राज्य क़ायम कर लिया। दक्षिण के राज्य मगध का जुआ उतारकर उसके प्रतिद्वंद्वी बन गए।

अंततः मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सेना के सम्मुख ही उसकी हत्या कर दी जो उसकी अलोकप्रियता और सेना तथा शासन पर उसकी पकड़ के अभाव का ही सूचक हो सकता है। उसकी हत्या के बाद पुष्यमित्र शुंग ने बहुत आसानी से बचा–खुचा मौर्य साम्राज्य हस्तगत कर लिया। पुष्यमित्र को शुरू से ही यूनानी आक्रमणकारियों से उलझना पड़ा। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अग्निमित्र के बाद शुंग वंश भी अँधेरे में डूब गया। ऐसे में उन बौद्ध स्रोतों का, जो शुंग वंश को बौद्ध मठों को जलाने और ब्राह्मण धर्म की पुनःप्रतिष्ठा का श्रेय देते हैं और जिसे डॉ. अम्बेडकर तथा वामपंथी इतिहासकार जस का तस स्वीकार भी कर लेते हैं, विंसेंट स्मिथ द्वारा अतिशयोक्तिपूर्ण गढंत बताना सही लगता है। दरअसल ब्राह्मण धर्म कहीं गया ही नहीं था। मौर्यवंश पर बौद्ध प्रभाव इतना अल्पकालीन रहा कि वह गहरी जड़ें जमाए सामाजिक संरचना को बदलने में असमर्थ था। यहाँ यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि समाज में ब्राह्मण सन्यासियों के साथ बौद्ध भिक्षुओं या श्रमणों की उपस्थिति लगातार बनी रही। मौर्योत्तर काल के साहित्य–ग्रंथों में दोनों के सह–अस्तित्व के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, किंतु समाज की मुख्य धारा पर बौद्ध श्रमणों का प्रभाव अति न्यून रहा। वर्ण व्यवस्था और उसमें चारों वर्णों की स्थिति कमोबेश एकरूप बनी रही।

बाद के ब्राह्मण स्मृतिकारों ने शूद्रों की कमज़ोर स्थिति को संहिताबद्ध किया, जिसमें उनका एकमात्र कर्तव्य शेष तीनों वर्णों की सेवा तक सीमित कर दिया और उनके अपराध के लिए अपेक्षाकृत अधिक कड़े

दंड का विधान किया। किंतु यह महज़ उनकी संकीर्ण आकांक्षा का द्योतक हो सकता है। सामाजिक और प्रशासनिक व्यवहार का जो भी इतिहास उपलब्ध है, उसमें स्मृतियों के इस विधान के अनुपालन का एक भी प्रमाण नहीं मिलता।

गुप्तवंशीय राजाओं का वर्ण और जाति भी विवाद का विषय है, डॉ काशी प्रसाद जायसवाल उन्हें शूद्रवंशीय मानते हैं। गुप्त काल को भागवत धर्म की प्रतिष्ठा का काल माना जाता है, साथ ही कला–संस्कृति के विकास तथा आर्थिक सम्पन्नता का स्वर्णकाल भी माना जाता है। हस्त–उद्योग और कृषि–कर्म का पूरा दायित्व सँभाले शूद्रों के योगदान के बिना गुप्त काल का स्वर्णकाल बनना असंभव था। लौह–उत्पादन की जो भट्ठियाँ इतनी समुन्नत तकनीक से लैस हो सकती थीं कि मेहरौली का लौह–स्तंभ (गुप्तकाल की ही देन है) निर्मित कर सकें, वह हस्त–उद्योग में लगे शूद्रों के मात्र सेवक होने का संकेतक नहीं हो सकता। सामान्यजन में जिस अमन और खुशहाली का वर्णन फ़ाहियान ने किया है, उसके लाभ से शूद्रों का इतना बड़ा समुदाय, जो एकमात्र उत्पादक समुदाय था, वंचित और इसलिए असंतुष्ट रहा हो, यह असंभव है।

हाँ, अस्पृश्य माने जाने वाले समुदायों की स्थिति अलग थी। वह प्राचीन भारतीय इतिहास की एक अनसुलझी गुत्थी है। उस पर गहन, तात्विक और निष्पक्ष गवेषणा और चिंतन की ज़रूरत अभी भी बनी हुई है।

(7)

अस्पृश्यता का अभिशाप

आर्यों के एक भिन्न नस्ल का होने, बाहर से आक्रमण करने और भारत के मूल निवासियों का दमनकर उन्हें वर्णव्यवस्था में शामिल करने का प्रमेय प्रथम खंड में तथ्यों एवं तर्कों पर आधारित विस्तृत विमर्श के आलोक में ख़ारिज कर दिया गया है। उपरोक्त प्रमेय में एक गंभीर ख़ामी यह भी है कि उसमें शूद्रों और अस्पृश्यों के बीच जो जबर्दस्त खाई दिखती है उसकी कोई युक्तियुक्त व्याख्या नहीं मिलती, उसके लिए तथ्यात्मक सामग्री तो सिरे से ग़ायब है।

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर की संदर्भित पुस्तक 'Who were the Shudras' 1946 में छपी थी; उसमें केवल शूद्रों की उत्पत्ति और पहचान पर उनकी गवेषणा और निष्कर्षों का विवेचन है। अस्पृश्यों की समस्या इतनी दीगर है कि इस पर उन्होंने दूसरी पुस्तक लिखी– 'The Untouchables- Who were they and Why They Became Untouchables' जो 1948 में छपी। महाराष्ट्र सरकार के शिक्षा विभाग ने कई खंडों में प्रकाशित बाबा साहब के लेखन और भाषणों के संग्रह के खंड–7 में दोनों पुस्तकों का रीप्रिंट एक साथ छाप दिया है, जिससे कुछ भ्रम हो सकता है। वस्तुतः दोनों सर्वथा अलग मुद्दे हैं।

उपरोक्त पुस्तक में बाबा साहब ने भारतीय संविधान अधिनियम, 1935 के साथ संलग्न अस्पृश्य जातियों की प्रांत–वार सूची उद्धृत की है, जिसमें कुल 429 जातियाँ शामिल हैं। उनकी परिधि में (उस समय) कुल 5–6 करोड़ लोग आते थे। भारत में अस्पृश्यता कुछ अन्य देशों की तरह अपवित्र माने गए, किसी काम या घटना तक सीमित नहीं थी, यह जन्मजात थी और इससे मुक्ति पाने का कोई उपाय नहीं था। क्रीतदास तक स्वयं या किसी अन्य के द्वारा क्रय–राशि का भुगतान होने पर दासत्व से मुक्त हो सकते थे, पर अस्पृश्य के लिए कोई मुक्तिमार्ग नहीं था। अनन्य रूप से अमानुषिक तथा आत्यंतिक रूप से अन्यायपूर्ण यह 'संस्था' और आज़ादी के बाद तक, देश के विभिन्न भागों में अस्पृश्यों की भयावह स्थिति, किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को विचलित कर देगी। इसके कर्ताओं और हज़ारों साल तक इसे जीवित रखनेवालों के प्रति आक्रोश से भर देगी। किसी भी हिंदू का शिर लज्जा से झुका देगी। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की तमाम उदात्त उपलब्धियों का क्रूरतम प्रत्याख्यान है– अस्पृश्यता की यह संस्था।

इस संस्था के उदय के नस्ली सिद्धांतकार स्टैनली राइस (Stanley Rice, Hindu Customs and their Origin, pp-113–15) के प्रमेय के अनुसार अस्पृश्य जातियाँ इस देश की मूल निवासी हैं और वे न तो

आर्य नस्ल की हैं, न द्रविड़ नस्ल की। राइस के अनुसार पहले द्रविड़ों ने आक्रमण कर मूल निवासियों को अस्पृश्य बनाया, फिर आर्यों ने आक्रमण कर द्रविड़ों को शूद्र बनाया। पहले आ चुका है कि आर्यों को एक नस्ली समूह मानने और आर्य–आक्रमण (और उसी तरह द्रविड़ आक्रमण) के सिद्धांत को स्वीकार करने का कोई वाजिब आधार नहीं है। इस देश में कम से कम चार नस्लों के लोगों का रक्त–मिश्रण प्रागैतिहासिक काल में सम्पन्न हो चुका था जिसके प्रमाण दिए जा चुके हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यता की संस्था के उदय का सूत्र अस्पृश्यों के लिए शास्त्रों में प्रयुक्त शब्द अंत्य, अंत्यज और अंत्येवासिन् तथा व्यवहार में उनकी परंपरागत बस्तियाँ गाँव से बाहर होने में खोज निकाला।

डॉ. अम्बेडकर अपने प्रमेय की स्थापना इस निर्विवाद तथ्य से शुरू करते हैं कि आदिम समाजों और आधुनिक समाजों में मूलभूत अंतर है– जहाँ आदिम समाज घुमक्कड़ थे, आधुनिक समाज स्थायी रूप से निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त आदिम समाज बिरादरी और रक्तसम्बंध से जुड़े क़बीलाई समाज थे, जबकि आधुनिक समाज स्थायी निवास की क्षेत्रीय निकटता से जुड़े होते हैं। आदिम समाज घुमक्कड़ इसलिए थे कि शुरू में मनुष्य की एकमात्र सम्पत्ति पशु–धन के रूप में थी। वे पशुपालक समाज थे और नये चरागाहों की तलाश में स्थान बदलते रहते थे। मनुष्य की युयुत्सु और लोभी प्रवृत्ति के चलते आदिम समाज के क़बीलों में भी परस्पर शांति और सौहार्द नहीं था और पशुओं की संख्या बढ़ाने के लिए एक क़बीला दूसरे क़बीले पर हमला करता रहता था।

आदिम समाजों के आधुनिक समाज में अंतरण की लम्बी प्रक्रिया है जिसके दौरान घुमक्कड़ क़बीले धीरे–धीरे खेती करना सीखकर स्थायी निवासी बन गए। इससे पशुधन के अलावा कृषि–भूमि और अन्न–भंडार भी उनकी सम्पत्ति में शामिल हो गए, किंतु सभी क़बीले एक साथ स्थाई बाशिंदे नहीं बन सकते थे। तो संक्रमण के इस दौर में घुमक्कड़ क़बीलों का बसे हुए क़बीलों पर हमला करना उनके लिए अधिक लाभदायी हो गया क्योंकि स्थायी क़बीलों के पास पशुधन के अलावा अनाज का भंडार भी होता था। दूसरी ओर स्थायी बसे क़बीलों के लिए अपनी प्रतिरक्षा करना अधिक कठिन हो गया। खेती के ज़्यादा लाभप्रद काम में लगे होने से वे लड़ने में कमज़ोर होते गए। इसके अतिरिक्त वे अपना स्थायी निवास छोड़कर हमलावर क़बीले को हराने के बाद, दूर तक उसका पीछाकर उसे नष्ट नहीं कर सकते थे।

सतत् चलते इस क़बीलाई युद्ध की स्थिति में ऐसा भी होता था कि कोई क़बीला हारने के बावजूद पूरी तरह नष्ट नहीं होता था और उसके बचे हुए सदस्य तितर–बितर हो जाते थे। ऐसे सदस्य अपने क़बीले से टूटकर अकेले या छोटे–बड़े झुंडों में इधर–उधर डहडहाने लगते थे क्योंकि आदिम क़बीलाई समाज में क़बीले से टूटे लोगों का कोई वजूद नहीं था। हर क़बीले के सभी सदस्यों के आपस में बिरादरी या रक्तसंबंध से जुड़े होने के कारण ऐसे टूटे हुए लोग या झुंड किसी अन्य क़बीले में शामिल नहीं हो सकते थे। तो उन्हें सुरक्षा, भोजन और आश्रय की सख़्त ज़रूरत थी। उधर स्थाई रूप से बस चुके क़बीलों को भी सुरक्षा के लिए गाँव से बाहर किंतु सरहद के पास रहकर निगरानी रखनेवालों और हमले की स्थिति में शुरुआती युद्ध लड़नेवालों की ज़रूरत थी।

हिंदुओं के पूर्वज भी क़बीलाई समाज के लोग थे, यह संक्रमण यहाँ भी घटित हुआ। और गाँव के बाहर बसे, भिन्न क़बीले के लोग ही कालांतर में अस्पृश्य हो गए। उन्हें भोजन, सुरक्षा और आश्रय के बदले वे सारे काम करने पड़े, जिन्हें करते हुए अस्पृश्य जातियाँ इतिहास का परदा हटने पर पाई गईं। बहुत संक्षेप में यही है– डॉ. अम्बेडकर का प्रमेय। उन्होंने महाराष्ट्र में स्वयं की अस्पृश्य महार जाति के कुल 52 अधिकारों का ज़िक्र किया है जो गाँव के बाहर सुरक्षा के लिए बसाए गए, इन लोगों को प्राप्त थे। इनमें तीन प्रमुख थे– 1.गाँववालों से भोजन प्राप्त करना, 2. फ़सल की मड़ाई के समय हर गाँववाले से निश्चित मात्रा में अनाज प्राप्त करना और, 3. गाँववालों के मरे हुए जानवर प्राप्तकर उनके चमड़े और हड्डी आदि का उपयोग करना। इसी के थोड़े भिन्न–भिन्न रूप पूरे देश में पाए जाते हैं।

इसमें एक मुख्य बात यह है कि इन अस्पृश्य जातियों के गोत्र वही हैं जो ब्राह्मणों और अन्य जातियों के। गोत्र व्यक्ति के कुल (संस्कृत में जन) से निर्धारित होता है जबकि जाति और उपजाति पेशे और वैवाहिक सम्बंधों से। क़बीलाई समाज विवाह संस्था से पूर्व के हैं। विवाह संस्था आने पर क़बीलाई समाजों में वैवाहिक सम्बंध क़बीले के भीतर ही होते रहे। मुसलमानों में अरब के क़बीलाई समाज का यह अवशेष आज भी जीवित है। हिंदुओं में कालांतर में सगोत्र विवाह वर्जित हो गया और उसी के साथ क़बीले टूट गए और जातियाँ, उपजातियाँ बन गईं। एक ख़ास बात यह है कि गोत्र यानी कुल (जिनसे क़बीले बनते थे) शूद्रों सहित चारों वर्णों और अस्पृश्य जातियोँ में सामान्य हैं, यह बात अलग है कि अशिक्षा के कारण अधिकांश जातियों के लोग अपने–अपने गोत्र भूल गए हैं। विभिन्न संस्कारों के समय गोत्र का नाम लेने के विधान से अमूमन ब्राह्मणों में गोत्र की स्मृति बनी हुई है, किंतु उनकी भी शहरों या विदेशों में बस गई पीढ़ियाँ अपने गोत्र की जानकारी से महरूम होती जा रही हैं। एकमात्र निष्कर्ष यही हो सकता है कि हिंदुओं के चारों वर्णों और अंत्यज अस्पृश्यों के भी कुल वही हैं, जो उनके गोत्रों से इंगित होते हैं और भिन्न–भिन्न वर्णों के लोग सामान्य कुलों के ही वंशज हैं।

इस तरह एक ही जाति या उपजाति में भिन्न–भिन्न गोत्र (या कुल) के लोग पाए जाते हैं। पारंपरिक रूप से गोत्र बचाकर जाति या उपजाति के भीतर ही परस्पर शादियाँ होती हैं, तो कुल गौण और जाति प्रधान हो उठी है, जिसने अपने–पराए का भ्रम पैदा कर दिया है। इन्हीं जातीय रक्तसम्बंधों और नए–नए अस्तित्व में आते गए पेशों के तानेबाने से अनेकानेक जातियाँ और उपजातियाँ अस्तित्व में आती गईं और कुल या गोत्र के आधार पर बने क़बीले प्रागैतिहासिक काल की वस्तु हो गए।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क़बीलाई समाज से आधुनिक समाज में अंतरण की यह प्रक्रिया तो पूरे विश्व में सम्पन्न हुई होगी और अपने क़बीले से टूटे हुए लोगों को अन्य क़बीलों में शरण भी मिली होगी, किंतु अस्पृश्यता का जन्म केवल हिंदू समाज में क्यों हुआ। डॉ. अम्बेडकर ने आयरलैंड और वेल्स के संदर्भ में इस प्रक्रिया के पुख़्ता प्रमाण दिए हैं। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine, Early History of Institutions, Lecture III PP-92–93) के एक उद्धरण के अनुसार प्राचीन आयरलैंड में हर क़बीले का एक निश्चित भूक्षेत्र होता था; उसकी सरहद के पास फालतू ज़मीन (Waste Land) छूटी रहती थी, जिस पर क़बीले का मुखिया 'फ़्युइधिर' (Fuidhir) या बाहरी लोगों को असामी के रूप में बसने की छूट देता था। फ़्युइधिर और कोई नहीं, अन्य क़बीलों के टूटे हुए लोग थे। इसी तरह सीबॉम (Seebhom, The Tribal System in Wales, P-9,54–55) का उद्धरण देकर अम्बेडकर ने सिद्ध किया है कि वेल्स में क़बीलों की बस्तियाँ एक–दूसरे से सर्वथा पृथक् दो हिस्सों में आबाद थीं, एक में स्वतंत्र असामी रहते थे और दूसरे में 'परतंत्र' (unfree) असामी, जिन्हें अल्ट्यूड (Alltude) कहा जाता था। परतंत्र असामी भिन्न रक्त के क़बीलों के टूटे हुए वो लोग थे, जिन्हें आश्रय दिया गया था और शुरू में हर स्तर पर बहुत कड़ाई के साथ उनसे पृथकता बरती जाती थी। फिर भी इन देशों में क़बीलाई समाज के आधुनिक समाज में अंतरण के पहले ही यह भेद समाप्त हो चुका था।

इस सम्बंध में इस नियम ने काम किया कि यदि बाहरी व्यक्ति की एक निश्चित पीढियाँ मुख्य क़बीले में विवाह करती रहीं तो वे उसका हिस्सा मान ली जाएँगी। भारत में भी इस नियम की मान्यता थी किंतु केवल शूद्रों के सम्बंध में। घोर ब्राह्मणवादी मनुस्मृति (अध्याय 10, श्लोक 64–65) के अनुसार छः पीढ़ियों तक शूद्र और ब्राह्मण में अनुलोम विवाह (शूद्र कन्या का ब्राह्मण वर से और इसी तरह उसकी हर पीढ़ी की कन्या का ब्राह्मण वर से विवाह) होता रहे तो सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न संतान ब्राह्मण हो जाएगी। किंतु अस्पृश्य जातियों के साथ अनुलोम विवाह का भी विधान नहीं बना। इस सतत् पार्थक्य के कारणों में जाना एक गहन अरण्य में खोई किसी वस्तु को खोजना है। पहले तो क़बीलों से टूटे हुए ये लोग अस्पृश्य क्यों और कैसे बने, इसका कोई निश्चित उत्तर होना चाहिए।

डॉ. अम्बेडकर इसके तीन कारण बताते हैं– एक, इन लोगों का बौद्ध बन जाना, दो, हिंदुओं में गोमांश वर्जित हो जाने के बावजूद इनका गोमांस–भक्षण जारी रखना, और तीन, इनके पेशों से जुड़ी

अशुचिता। यदि इन लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया होता तो वह हिंदू समाज द्वारा वेदों तथा ब्राह्मणों के तिरस्कार के रूप में ज़रूर लिया गया होगा। इतना तो निश्चित है कि ब्राह्मणों ने इनका पौरोहित्य कर्म कभी किया ही नहीं, और किया तो इनके बौद्ध बन जाने पर उसे बंद कर दिया या इन्होंने स्वयं ब्राह्मणों का पौरोहित्य त्यागकर अपने बीच से ही पुरोहित चुनना शुरू कर दिया जो धर्म–परिवर्तन के ज़्यादा अनुरूप लगता है।

किंतु बौद्ध बनने और गोमांस–भक्षण जारी रखने में स्पष्ट अंतर्विरोध है (नीचे देखें)। इसका समाहार यही हो सकता है कि इन्होंने मरे हुए अन्य पशुओं की तरह मरी हुई गायों का भी मांस खाना जारी रखा। किंतु यह तो उनको दिए गए कर्म– बस्ती के मरे हुए जानवरों को ठिकाने लगाने– से जुड़ा हुआ था और ऐसे जानवरों के चमड़े के साथ मांस पर भी उनका अधिकार बनता था और मरे हुए जानवर का मांस खाना– समाज की किसी अवहेलना के बजाय मजबूरी का ही द्योतक हो सकता था, जो अंत्यजों के प्रति कोई दुर्भावना उत्पन्न करने का कारण नहीं बन सकता था।

इस संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर ने पांडुरंग वामन काणे की पुस्तक 'History of Dharma Shastra' से वेदव्यास स्मृति के एक उद्धरण को उद्धृत किया है जिसमें अन्त्यजों की पहचान में उन्हें गाय का मांस खानेवाले अन्य समूहों के साथ रखा गया है– "चर्मकार, भट्ट (सैनिक), भील, रजक, पुस्कर, नट, व्रात, मेद तथा अन्य जो गोमांस खाते हैं, अंत्यज के रूप में जाने जाते हैं।"

यहाँ सवाल यह नहीं है कि कोई अंत्यज के रूप में क्यों जाना गया, सवाल यह है कि अंत्यज लोग जन्मना अस्पृश्य कैसे मान लिए गए? बौद्ध बनना भी अस्पृश्यता का बहुत अपर्याप्त कारण प्रतीत होता है। इस सम्बंध में डॉ. अम्बेडकर ने सीधे मनुस्मृति से उद्धरण देने के बजाय नीलकांत की 'प्रायश्चित मयूख' में दिए गए मनुस्मृति के एक तथाकथित श्लोक के उद्धरण को उद्धृत किया है– "यदि कोई व्यक्ति किसी बौद्ध, लोकायत, नास्तिक महापातकी या पचुपत (?) के पुष्प का स्पर्श करता है तो उसे स्नान करके अपने को शुद्ध करना होगा।"

यह मानते हुए भी कि श्लोक मनुस्मृति का है, यह नहीं कहा जा सकता कि इसे कभी व्यवहार में लाया गया होगा। पहले आ चुका है कि मनुस्मृति और अन्य स्मृतियाँ भी संकीर्ण ब्राह्मणों की विकृत मनस्थिति की उपज हैं और इनके आत्यंतिक विधि–निषेधों का व्यवहार में लागू होने का साक्ष्य नहीं मिलता। वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकांड में राम को वन जाने से लौटाने के लिए गए हुए भरत से राम के संवाद के बाद नास्तिक मत के ब्राह्मण जाबालि प्रकट होते हैं। राम को लोकायत दर्शन का उपदेश देते हुए अर्थ का परित्याग कर, धर्म का आश्रय लेने को मनुष्य के दुःखों का कारण बताते हैं और उन्हें पिता का राज्य ग्रहण कर राजा के भोगों का भोग करते हुए अयोध्या में विहार करने की सलाह देते हैं (सर्ग–108)। राम उन पर तनिक भी नाराज़ हुए बिना जीवन में आस्तिकता, धार्मिक मर्यादा और मानवीय कर्तव्यों के महत्व का प्रतिपादन करते हुए, उन्हें संतुष्ट कर देते हैं (सर्ग–109) बाणभट्ट की कादम्बरी और संस्कृत नाटकों में बौद्ध श्रमणों की व्यापक सामाजिक उपस्थिति है, भले ही एक अंधविश्वास के तहत कार्यारम्भ में उनके दर्शन को अपशकुन माना जाता रहा हो।

वैदिक दर्शन के छः स्कूलों पर लोकायत दर्शन का अमिट प्रभाव है, उनमें से कपिल का सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी है और ईश्वर के अस्तित्व का सविस्तार खंडन करता है। न्याय दर्शन भी तर्कवादी है और ईश्वर को कर्मफल का हिसाब–किताब रखने के सिवा कुछ भी करने में असमर्थ मानता है, इस तरह न्याय ईश्वर की महज़ ओष्ठसेवा करता है। लोकायत भारतीय दर्शन की मुख्यधारा में सक्रिय थे, अन्य दर्शन के आचार्यों से शास्त्रार्थ करते थे। उनके विचार उपनिषदों में यत्र–तत्र बिखरे हुए हैं जिनके आधार पर देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Lokayat- A Study in Ancient Indian Materialism लिखी है। ऐसे में अंत्यजों का बौद्ध बनना स्वीकार भी कर लिया जाए तो उपरोक्त श्लोक के आधार पर उन्हें जन्मना अस्पृश्य सिद्ध करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है।

देखने की बात यह भी है कि अंत्यजों और शेष हिंदुओं के बीच यह विलगाव कब हुआ और बौद्ध धर्म स्वीकार करने के साथ गोमांस भक्षण कैसे संभव हुआ। महात्मा बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्त करने बाद के समय से ही बुद्ध धर्म का प्रभाव संभव था।

यहाँ यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि भारत के प्राचीन इतिहास में कभी ऐसा काल नहीं आया जिसे धार्मिक दृष्टि से बौद्ध काल कहा जा सके। हिमालय की तलहटी से विंध्य तक फैले सोलह महाजनपदों का काल महात्मा बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्त करने से पहले का है, जिसमें ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व रहा। नंद–वंश और मौर्य–वंश के शासक शूद्र होते हुए भी, ब्राह्मण धर्म के प्रभाव में रहे। केवल अशोक के काल में बौद्ध धर्म का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है जिसमें सदाचार के साथ–साथ बौद्ध धर्म में केंद्रीभूत अहिंसा पर भी बल दिया गया, किंतु अशोक में धार्मिक असहिष्णुता या ब्राह्मण धर्म से विद्वेष का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। इसके विपरीत ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म के प्रभाव को निरस्त करने के लिए स्वयं में परिवर्तन लाकर– पशुओं की बलि वाले यज्ञों का बहिष्कार कर दिया। वैष्णव ब्राह्मणों ने मांसाहार का परित्याग कर दिया। शेष हिंदू जनता में हर जाति का एक बड़ा समुदाय मांसाहार का परित्याग कर शाकाहारी हो गया। गोमांस–भक्षण चारों वर्णों के हिंदुओं के लिए टैबू हो गया। इस सम्बंध में अशोक के शिलालेख–1 और स्तम्भलेख–2 और 5 में निम्न उल्लेख महत्वपूर्ण है– "पहले राजकीय रसोई में प्रति दिन सैकड़ों हज़ार (अतिशयोक्ति संभव है) जीवों का वध होता था। किंतु जब यह पवित्र अभिलेख लिखा जा रहा है, कढ़ी के लिए केवल तीन जीवों की हत्या होती है– दो मोर और एक हिरण की– इनमें से भी हिरण की हमेशा नहीं। अब इन तीन जीवों का भी वध नहीं किया जाएगा।"

अशोक का शिलालेख–5 कई पक्षियों, कछुओं और हड्डी–विहीन मछलियों के वध पर निषेध लगाने के साथ बकरियों, भेड़ों, गायों के वध के बारे में निम्नलिखित आदेश जारी करता है– "बकरियों (बकरे नहीं), भेड़ों, गायों, वे कम उम्र की हों या दूध देनेवाली हों, और छः महीने की उम्र तक के उनके बछड़ों (नर, मादा दोनों) को वध से मुक्त किया जाता है।"

अशोक के समय में निश्चय ही मांसाहार को हतोत्साहित किया गया और बहुत संभव है तभी से हिंदुओं ने गोमांस–भक्षण को टैबू की तरह छोड़ दिया। इस तरह बौद्ध धर्म स्वीकार करने के साथ गोमांस–भक्षण की संगति नहीं बैठती, इसके विपरीत बौद्ध धर्म के स्वीकार के साथ गोमांस ही नहीं, समस्त–मांसाहार छोड़ने की संगति बैठती है। एक ओर बौद्ध धर्म के स्वीकार के साथ जुड़ी अहिंसा और दूसरी ओर गोमांस भक्षण साथ नहीं चल सकते। हाँ, जैसे कि ऊपर कहा गया, अन्य मृत जानवरों की तरह मृत गाय का मांस खाने की प्रथा उस सामाजिक उपयोगिता के साथ मजबूरी में जुड़ी होगी जिसके तहत उन्हें बस्ती के मृत जानवरों को ठिकाने लगाने का काम सौंपा गया था, और यह तो शुरू से चला आया होगा, जब से वे अंत्यज बनकर गाँवों के बाहर बसे और गाँव पर निर्भर हुए होंगे।

यह स्थापना कि समस्त देश के अंत्यज एक साथ बौद्ध बन गए, तथ्यात्मक संभावना की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। देश में बौद्ध–धर्म का प्रसार धीरे–धीरे और पॉकेट्स में ही हुआ। वैशाली और मगध या बिहार इसका केंद्र रहा। बौद्ध–दर्शन के विकास के साथ इसके विद्वान नालंदा, तक्षशिला, वलभी और विक्रमशिला जैसे प्राचीन विश्वविद्यालयों में पहुँचे और वहाँ बौद्ध ग्रंथों का पठन–पाठन और चिंतन–मनन शुरू हुआ, किंतु जनसाधारण के लिए अपने पुराने संस्कारों को छोड़कर बौद्ध श्रमणों के उपदेशों के अनुरूप जीवन को ढालना आसान नहीं रहा होगा। फिर बौद्ध धर्म निवृत्तिमार्गी है, इसके केंद्र थे– संघ, विहार और मठ। गृहस्थों की जीवनशैली बदलना इसके लिए कठिन था। बहुत जल्दी ही, वैशाली में हुई दूसरी धम्मसंगीति (383 ई.पू.) में महायान और हीनयान का विभाजन हो गया। महायान के अंतर्गत बौद्ध मंदिर, महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ, उनके पूर्वजन्मों पर आधारित जातक कथाएँ आदि सनातन धर्म से बहुत दूर नहीं जाती थीं और अंततः महात्मा बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में सनातन धारा में समाहित ही कर लिया गया।

इन तथ्यों के आधार पर और अंत्यजों के पेशों की प्रकृति के आलोक में, उन्हें अस्पृश्य मानने के पीछे ब्राह्मण धर्म में शुचिता का सर्वग्रासी और आत्यंतिक आग्रह– अमानवीयता की हद तक– ही एकमात्र कारण प्रतीत होता है। इस पक्ष पर थोड़ा विस्तार अपेक्षित है।

(8)

अस्पृश्यता का अभिशाप : शुचिता का आत्यंतिक आग्रह

ऋग्वेद हिंदुओं का आदि ग्रंथ है। पहले आ चुका है कि ऋग्वेद में सोपानीकृत वर्णव्यवस्था का कोई साक्ष्य नहीं, अस्पृश्यता की तो आहट तक नहीं। कालांतर में ऋग्वैदिक समाज का जबर्दस्त कायापलट हुआ, जो इतिहास–सिद्ध है और वर्तमान का अनुभूत सच भी। स्त्रियों की स्थिति एक ठोस उदाहरण है। ऋग्वेदकालीन स्त्रियाँ शिक्षित हैं, स्वतंत्र हैं, न कहीं परदा प्रथा का संकेत है, न दहेज का और न सती प्रथा का। ऋग्वेद के कई सूक्त/ऋचाएँ स्त्रियों द्वारा रचित हैं। दसवें मंडल के सूक्त 40 की ऋषि (ऋषिका) काक्षीवती घोषा हैं, इसी मंडल के सूक्त 151 की ऋषिका श्रद्धा कामायनी तथा सूक्त 154 की यमी वैवस्वती हैं। आठवें मंडल के सूक्त 91 की ऋषिका अपाला मैत्रेयी हैं। इसी तरह कई ऋचाओं की ऋषिकाएँ सावित्री सूर्या, लोपामुद्रा, गोधा और रोमशा हैं। ऋषिकाओं में स्त्री–पुरुष सम्बंधों को लेकर अधिक आत्मविश्वास दिखता है; उनकी ऋचाएँ अपेक्षाकृत अधिक दैहिक हैं। रोमशा–कृत एक ऋचा है– उपोय मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः। सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका।।1.126.7।।

(हे प्रिय, मेरे पास आकर मेरा ठीक से आलिंगन करो, यह न समझो कि मैं कम रोमवाली, इसलिए अभोग्या हूँ। गांधार देश की भेड़ के समान मैं प्रभूत रोमवाली और वयस्का हूँ।)

दसवें मंडल के दसवें सूक्त में यम–यमी संवाद में यमी द्वारा कामेच्छा की उन्मुक्त अभिव्यक्ति एक वर्जनामुक्त समाज का आईना है। शची पौलोमी, विश्पला तथा मुद्गलानी के आख्यान से यह भी स्पष्ट है कि स्त्रियाँ युद्धों में भाग लेती थीं और पराक्रमी होती थीं। (स्वयंवर प्रथा तो राजपूत काल तक चलती रही और स्वयंवर में वधू का वयस्का, शिक्षित, जानकार और परदा से मुक्त होना निहित है। इस बात का प्रमाण भी कि स्मृतियों के अधिकांश दकियानूसी बंधन व्यवहार में कभी नहीं उतरे।)

कालांतर में इन्हीं स्त्रियों की भावी पीढियाँ छुई–मुई बनाकर घर की चारदीवारी में बंद कर दी गईं। मनु महाराज ने बचपन से बुढ़ापे तक स्त्रियों को परतंत्र घोषित कर दिया– पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।।9.3।। हाँ, साथ में यह भी जोड़ दिया कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं।

कुछ ऐसा ही विचलन अस्पृश्यता की उत्पत्ति और दृढ़ीकरण में भी दिखाई पड़ता है। ऋग्वैदिक काल के गण (क़बीले) पशुपालन के अलावा कृषि कार्य भी करने लगे थे– फालाः नः भूमिं शुनं व कृषन्तु (4. 57. (हल के फाल हमारी भूमि को सुखपूर्वक जोतें।) वृकेण यवं कर्षथः (8.22.6) (हल से जौ का खेत खींचते (जोतते) हो।) कृषिकार्य के लिए उनके गण स्थाई रूप से रहने लगे थे किंतु कुछ गण अभी भी पशुपालक और इसलिए घुमक्कड़ जीवन बिता रहे थे। इससे, जैसा कि पहले आ चुका है, कृषि में लगे गणों की सुरक्षा की समस्या बढ़ गई होगी और आपसी संघर्ष में विनष्टप्राय हुए घुमक्कड़ गणों के टूटे हुए लोग आश्रय की तलाश में इतस्ततः घूमने लगे होंगे। ऐसे लोगों को कृषिकर्म में लगे गणों की बस्ती की सीमा पर बसा दिया गया होगा। बाह्य होने से गण के सदस्यों की सुविधाओं से वंचित उन लोगों से आश्रय और जीवन–निर्वाह के बदले वे सारे काम लिए जाने लगे होंगे जिन्हें गण के सदस्य अनिच्छा से करते रहे होंगे। उनमें साफ़–सफ़ाई और मृत पशुओं को ठिकाने लगाने जैसे काम भी शामिल रहे होंगे।

ऋग्वेद में कुल 10 मंडल, 1028 सूक्त और 10600 ऋचाएँ (या मंत्र) हैं। इनमें से आठ (तीसरे से नवें) मंडलों की रचना पहले हुई है– मानी जाती है। इनके सूक्तों में प्रकृति की शक्तियों के प्रतीक–रूप देवों की स्तुतियाँ, उनके प्रसाद के लिए किए जानेवाले अनुष्ठान और यत्र–तत्र ब्रह्मांड–विषयक चिंतन मिलते हैं।

बाद में रचित पहले और दसवें मंडल के सूक्त दार्शनिक प्रश्नों, ब्रह्मांड की उत्पत्ति से जुड़े आधिभौतिक (Metaphysical) प्रश्नों, दानादि गुणों और ईश्वरीय चिंतन से सम्बंधित हैं। ऋग्वेद के अनुष्ठानों और दार्शनिक चिंतन का ही विशद् रूप हमें यजुर्वेद में मिलता है, जिसमें शतपथ ब्राह्मण (शुक्ल यजुर्वेद) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (कृष्ण यजुर्वेद) तथा छः उपनिषद्– बृहदारण्यक, ईस, तैत्तिरीय, कठ, श्वेताश्वतर और मैत्री उपनिषद्– शामिल हैं। यजुर्वेद संहिता और शतपथ/तैत्तिरीय ब्राह्मण द्वारा उसकी व्याख्या ऋग्वैदिक कर्मकांड को विस्तार देती हैं, जबकि उपरोक्त उपनिषद् उसके ज्ञानकांड को। कर्मकांड में अग्निहोत्र, चातुर्मास्य (तीनों ऋतुयों के प्रारम्भ में किए जानेवाले अनुष्ठान), दर्शपूर्णमास (पूर्णचंद्र और नवचद्र से सम्बंधित अनुष्ठान), पितृयज्ञ और विशाल स्तर पर सम्पन्न होनेवाले देव यज्ञ– सोम, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणि, अश्वमेध, पुरुषमेध (प्रतीकात्मक) और सर्वमेध– शामिल हैं। इन अनुष्ठानों और यज्ञों का सामान्य और केंद्रीय तत्व है यज्ञकर्ता, याजक, होता, ऋत्विज, यज्ञमंडप और उसमें भी विशेषकर यज्ञ–वेदी और अग्निकुंड की शुचिता का आग्रह जिसके विस्तृत विधि–निषेध हैं।

संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों के अतिरिक्त दैनंदिन जीवन–यापन के लिए दैविक, पैतृक और सामाजिक कृत्यों और गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक के 16 संस्कारों की एक विस्तृत पद्धति विकसित हो गई जो गृह्यसूत्रों में निरूपित है। इन्हें स्मार्त सूत्र भी कहते हैं। ये श्रुतियों के अंश तो नहीं हैं किंतु उनकी स्मृति के आधार पर सूत्रबद्ध किए गए हैं। गृह्य सूत्रों में कात्यायन, आपस्तंब, बौधायन, गोभिल और शांखायन गृह्य सूत्र प्रमुख हैं। इनकी पद्धति संभवतः भौगोलिक और स्थानीय कारणों से थोड़ी भिन्न–भिन्न है। भिन्नता के आधार पर बाद में इनके अलग–अलग संप्रदाय बन गए। श्रौत सूत्र यज्ञों के विधि–विधान से संबंधित हैं। धर्मसूत्र सम्पत्ति के उत्तराधिकार, जीवननिर्वाह के अधिकार जैसे व्यापक सामाजिक–प्रशासनिक पहलू के विधि–विधान हैं। इनकी संख्या बहुत है किंतु अब केवल आपस्तंब, गौतम, बौधायन और वसिष्ठ के धर्मसूत्र उपलब्ध हैं। ब्रिटिश शासकों ने स्मृति–ग्रंथों के साथ, इन्हें ही हिंदू क़ानून का आधार बनाया था।

तीनों कोटि के सूत्रों में शुचिता पर आत्यंतिक आग्रह है। हिंदुओं, ख़ासकर ब्राह्मणों में शुचिता का क्षेत्र अकल्पनीय रूप से व्यापक है। शारीरिक शुचिता, आहार की शुचिता, पूजा–अर्चना एवं अनुष्ठानों की शुचिता का– एक विस्तृत तानाबाना है, जो नैष्ठिक ब्राह्मणों में मेरे बचपन तक चला आया था। मूत्र–पुरीषोत्सर्ग तक के लिए विस्तृत नियम हैं। जैसे पुरीषोत्सर्ग के बाद शुद्ध मिट्टी से गुदा को तीन बार, बाएँ हाथ को दस बार और फिर दोनों हाथों को सात बार धोने का विधान है। इसके बाद बिना स्नान किए, वस्त्र बदले और आचमन किये– पूजा–अर्चना नहीं हो सकती। मूत्र–त्याग के बाद भी इंद्रिय और हस्त–प्रक्षालन की प्रविधि निर्धारित है। नैष्ठिक लोग इनका अनुपालन भी करते थे। शरीर से उत्सर्जित बारह पदार्थ मल माने गए हैं– वसा, वीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक और कान का मैल, कफ, आँसू, आँख का कीचड़ और पसीना (मनुस्मृति, 5.135)। इन सबकी सफ़ाई का विधान है। आचमन और हस्त–प्रक्षालन का विधान पूजा–अर्चना की शुरुआत के साथ–साथ हर चरण के बाद आता है।

भोजन की शुद्धता रसोई और रसोई बनाने वाले से ही शुरू हो जाती थी। रसोई बनानेवाली स्त्री को स्नान करने के बाद एक वस्त्रा होकर (मात्र एक साड़ी पहनकर) रसोई बनानी पड़ती थी और उस वस्त्र को रोज़ धोया जाता था, अवध में उसका नाम ही 'पखरुआ' पड़ गया था। रसोई के सामान, लकड़ी, बरतन आदि रखने के नियत स्थान के परिक्षेत्र में ऐसी स्त्रियों को छोड़कर कोई अन्य प्रवेश नहीं कर सकता था। बच्चों के अज्ञानवश रसोई का परिक्षेत्र छू लेने मात्र से, वह अपवित्र मान लिया जाता था। पुरुष–संसर्ग के बाद कोई स्त्री बिना फिर से स्नान किए रसोई नहीं बना सकती थी। ऋतुकाल में रसोई बनाने की बात तो दूर, ऋतुमती को कोई छू तक नहीं सकता था। ब्राह्मण अधोवस्त्र और उत्तरीय या गमछे को छोड़कर कोई अन्य वस्त्र पहनकर भोजन नहीं करते थे। शायद इसलिए कि इन्हें रोज़ धोया जाता था। सिले हुए वस्त्रों पर ख़ास पाबंदी थी। कारण शायद यह रहा हो कि वस्त्र सिलने की कला और सिले हुए वस्त्र बाहर से आए। प्राचीन भारत में अधोवस्त्र, अंतर्वस्त्र (लँगोट), उत्तरीय और उष्णीष (पगड़ी) का ही उल्लेख मिलता है। स्त्रियों के लिए उत्तरीय की जगह बिना सिली हुई चोली होती थी। ठंड के दिनों में सामर्थ्य के अनुरूप शाल, दुशाला, कंबल या स्थानीय स्तर पर भेड़ का ऊन बँटकर हाथ से बुनी गई 'कमरी' ओढ़कर काम चलाया

जाता था। बाद में बाहर से आए सिले हुए वस्त्र यहाँ भी बनने और पहने जाने लगे, किंतु उन्हें अपवित्र मानने की धारणा बनी रही, इसीलिए भोजन और पूजा, अनुष्ठान या कोई मांगलिक कार्य करते समय उन्हें उतारना पड़ता था।

(एक अजीब बात यह है कि मेरे बचपन तक हर गाँव में दर्जी मुसलमान ही होते थे और अक्सर हिंदुओं के गाँव में दर्जी का अकेला घर होता था और वह निश्चिंत होकर गाँव के एक अविभाज्य अंग की तरह रहता था। यह इस बात का प्रमाण है कि सिले हुए वस्त्र बाहर से आए। बाद में औरतों ने भी सीने–पिरोने का काम सीखना शुरू कर दिया।)

शुद्ध रसोई में पका भोजन भी बाहर ले जाने पर अपवित्र हो जाता था। घर पर बना हुआ भोजन यात्रा में नहीं ले जाया जाता था। लोग केवल फल और अपवाद स्वरूप सूखे आटे को बूरे या चीनी के साथ घी में भूनकर बनी 'पंजीरी' से काम चलाते थे, नहीं तो कहीं रुककर भोजन बना–खाकर, फिर आगे बढ़ते थे। अमूमन लोग अपने पट्टीदारों (सगोत्रियों) और रक्तसंबंध से जुड़े लोगों के यहाँ ही भोजन करते थे। कुछ लोग जो ज़्यादा आचार–विचार से रहते थे, अपने घर की लड़की जहाँ ब्याही हो, वहाँ सिर्फ़ उसका बनाया हुआ और अपने घर की बहू के मायके में सिर्फ़ बहू का बनाया हुआ भोजन करते थे। कुछ लोग और आगे बढ़कर स्वयंपाकी होते थे और बाहर हर हाल में खुद बनाकर ही खाते थे। मेरे बचपन तक ब्राह्मणों का होटल में खाना वर्जित था और अप्रतिष्ठा का कारण बनता था।

किसी अनुष्ठान या मांगलिक कार्य के लिए बने हुए मंडप या आटे का चौक पूरकर चिह्नित स्थान में परिवार वाले और बंधु–बांधव भी बिना नहाए और नहाने के बाद भी बाहर से आने पर, बिना हाथ–पैर धोए, नहीं घुस सकते थे, बाहरी लोगों का प्रवेश तो वर्जित था ही।

पट्टीदारी में भी किसी के यहाँ मृत्यु होने पर दस दिन के लिए 'अशौच' पड़ जाता था और पूरा कुल अस्पृश्य हो जाता था। पूजा–अर्चना बंद और जो वैष्णव विष्णु की प्रतीक शालिग्राम शिला या किसी अन्य मूर्ति की पूजा करते थे, उसे दूसरे पूजक के यहाँ पहुँचा देते थे। कुल के लोगों से बाहरी लोगों का प्रणामाशीर्वाद तक नहीं होता था। दाह–संस्कार करनेवाला व्यक्ति तो अस्पृश्यों में भी अस्पृश्य। घर के बाहर बिना तला–भुना भोजन खुद बनाकर केवल एक समय खाता था, बाक़ी फलाहार से काम चलाता था। कोई उसको या उसके बिस्तर को नहीं छूता था। मातमपुर्सी (अवध में 'चहकारी') में आनेवाले लोग अलग चारपाइयों पर बैठकर, हालचाल पूँछकर, सांत्वना देकर और शुद्ध (दशाह) का दिन पता कर, पानी तक पिए बिना लौट जाते थे। माना जाता था कि मृतक दस दिन प्रेत योनि में रहता था, इसीलिए उसे प्रतिदिन तिलांजलि दी जाती थी और प्रेत के सूच्याकार मुख से पानी पीने के लिए किसी पेड़ से लटकाकर, बूँद–बूँद पानी टपकाने वाला छिद्र करके पानी से भरे मिट्टी के घड़े का 'घंट' बाँधा जाता था, प्रतिदिन उसमें ताज़ा पानी भरा जाता था। दसवें दिन घर के बाहर बाँस और कुश से छाए गए मंडप में दशाह–कर्म संपन्न होता था। मंडप के बाहर बैठकर देखने के लिए जँवार के लोग एकत्र होते थे। पिंडदान, सपिंडीकरण, वृषोत्सर्ग (किसी गाय के बछड़े को दाग़ कर मुक्त करना ताकि साँड़ के रूप में विचरण करते हुए वह इलाक़े की गायों के गर्भाधान में सहायक हो; उस पर दागा हुआ चिह्न पहचानकर लोग उसे फ़सल चरते देखकर भी मारते–खदेड़ते नहीं थे) आदि क्रियाओं के बाद महाब्राह्मण को शय्यादान दिया जाता था, जिसके साथ मृतक की पूरी पोशाक, बर्तन–भाँड़े, गृहस्थी के अन्य सामान, कोई सवारी, गाएँ और मृतक की प्रिय सभी चीज़ें दान दी जाती थीं। यह एक समय–साध्य अनुष्ठान होता था, जिसे अच्छे कर्मकांडी ही विधि–विधान से करा पाते थे। अनुष्ठान पूरा होते–होते शाम हो जाती थी और तब घर में प्रवेशकर गौरी–गणेश का पूजन होता था। उसके बाद ही जँवार के लोग उसके यहाँ जलपान ग्रहण कर उसके कुल को पुनः अपने समाज में स्वीकार करते थे, मृत्यु के तेरहवें दिन ब्रह्मभोज होता था। कमोबेश यह अनुष्ठान अब भी चला आ रहा है। गाय सहित पशुओं की मृत्यु पर और कुछ तो नहीं होता था किंतु उनका शव अस्पृश्य हो जाता था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महाब्राह्मण जो कुल–गोत्र से वस्तुतः ब्राह्मण ही थे, मृतक–क्रिया में दान लेने के कारण दशाह के दिन को छोड़कर घोर अस्पृश्य माने जाते थे। द्वार पर उनका आना और उन्हें

देखना तक पाप माना जाता था। उनकी बिरादरी ब्राह्मणों से बिल्कुल अलग–थलग, अपने–आप में सिमटी रहती थी। इसी प्रकार गोसाईं भी पहले ब्राह्मण थे जो शिव–मंदिर का चढ़ावा लेने के कारण ब्राह्मणों से बहिष्कृत हो गए; अब वे ओबीसी में आते हैं। कुछ भाँट भी अपने को पूर्व ब्राह्मण बताते हैं जो राजाओं के यहाँ प्रशस्तिगान करते थे और जाति–बहिष्कृत होकर अब ओबीसी में आ गए हैं। पहले ब्राह्मण खेती नहीं करते थे। उस काल में जो ब्राह्मण खेती करने लगे, वे बहिष्कृत होकर, भूमिहार बन गए और ब्राह्मणों से खान–पान, शादी–विवाह बंद हो गया। बाद में यज्ञादि ख़त्म होने पर कृषि–विहीन ब्राह्मणों की जीविका चलनी मुश्किल हो गई। मजबूरी में वे राजपूत रजवाड़ों और ताल्लुक़ेदारों से ज़मीन दान में लेकर खेती करने लगे। ब्राह्मणों में जिनके पास भी ज़मीने हैं, पीछे की किसी न किसी पीढ़ी को दान में मिली थीं। परिवार बढ़ने के साथ बँटते–बँटते उनकी सीर बहुत छोटी हो गई है। बहुत कम ब्राह्मण हैं, जो ज़मीन ख़रीदकर अपनी सीर बढ़ा पाए हों, अक्सर तो उनकी ज़मीनें बिकती ही सुनाई पड़ती हैं; लेकिन खेती न करने के प्रतीक के रूप में वे हल न चलाने की ज़िद पर अड़े रहे, खेती के बाक़ी सारे काम करते हुए भी। अब तो ट्रैक्टर आ जाने से यह अंतर भी ख़त्म हो गया है; लेकिन भूमिहार एक बार अलग हुए तो हमेशा के लिए अलग हो गए, जबकि अब ब्राह्मणों और भूमिहारों में कोई अंतर नहीं रह गया है। पेशे से जातियाँ बनने और उनकी संख्या बढ़ने के– ये कुछ ठोस उदाहरण हैं।

मृत्यु की तरह ही कुल में बच्चे के जन्म पर पूरा कुल बारह दिन के लिए अशौच (सूतक) से ग्रस्त और फलतः अस्पृश्य हो जाता था। पूजा–पाठ, बाहरवालों के साथ खान–पान सब बंद, और प्रसूता स्त्री अशपृश्यों में भी अस्पृश्य। सौरगृह में बिना नहाए–धोए पड़ी रहती थी। हाजत के लिए भी बाहर जाने की अनुमति नहीं थी, बंदियों की तरह हँडिया से काम चलता था। परिवार की कोई अन्य स्त्री भी उसे छू नहीं सकती थी। उसके खाने का अलग बरतन होता था, जिसमें ऊपर से खाना डाल दिया जाता था। बारहवें दिन 'निकासन' होने पर ही उसे मनुष्य होने की सुविधाएँ पुनः मिलती थीं।

ऋतुधर्म के समय स्त्रियों की स्थिति इससे थोड़ी ही बेहतर थी। बस वे कोठरी में बंद नहीं होती थीं किंतु रजो–निवृत्ति के पूर्व नहा–धो नहीं सकती थीं, स्त्रियों सहित घर का कोई अन्य प्राणी उन्हें छू नहीं सकता था, केवल बच्चे को दूध पिलाने की छूट रहती थी।

कोई ब्राह्मण किसी की हत्या से महापातक होने पर या विवाहेतर स्त्री–पुरुष सम्बंधों के खुल जाने पर उसके परिवार को जाति–बहिष्कृत कर दिया जाता था। भूल से भी बँधी हुई गाय या बैल मर जाने पर लोगों को पातक लग जाता था और उसके लिए दंड का विधान था। महापातक को लोग देखने और छूने तक से परहेज़ करते थे।

इस तरह अस्पृश्यता हिंदू समाज का अविभाज्य अंग थी। इसका विस्तार बहुत व्यापक था, किंतु जन्मना अस्पृश्य होने का अभिशाप केवल इन जातियों को मिला। उसका एकमात्र कारण उनके पेशों के प्रति हिंदुओं में, ख़ासकर ब्राह्मणों में जुगुप्सा का भाव रहा होगा। यहाँ देखने की बात यह है कि अन्त्यज लोग क्या–क्या काम करते थे या मजबूरी में उन्हें करने पड़ते थे। मृत जानवर बस्ती से बाहर कर उसका मांस और चमड़ा अलग करना– चर्मकारों का काम होता था। उनकी स्त्रियाँ ही नवजात का नाल काटती थीं और सौर–गृह की साफ़–सफ़ाई करती थीं। विवाह या अन्य आयोजनों पर वे घर के आसपास की भी सफ़ाई करते थे। बदले में उन्हें साल में दो बार फ़सल की मड़ाई पर पैदावार का एक हिस्सा 'फरवार' के रूप में मिलता था। कुछ दशक पहले एक पंचायत करके चर्मकारों ने– ये सारे काम छोड़ दिए। लगभग उसी समय से गाँव की औरतें प्रसूति के लिए सरकारी अस्पतालों या प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में जाने लगीं और जीवन–मरण से जुड़ी एक बड़ी मानवीय समस्या खड़ी होने से रह गई। जानवरों का चमड़ा बेचने और किसानों से मिलनेवाले 'फरवार' की आय चर्मकारों की बंद हो गई। वे केवल खेत–मजदूरी तक सीमित हो गए। बाद में उन्हें ग्रामसमाज से कुछ ज़मीनें मिलीं और सरकार ने घर बनाकर दिए या उसके लिए आर्थिक सहायता दी। कुछ चर्मकार जूता (उपानह), चरस व चमड़े की अन्य वस्तुएँ बनाने का हस्तशिल्प सीख लिए थे। उनकी स्थिति बेहतर थी। कुछ इलाक़ों में पासी जाति के प्रायः भूमिहीन लोग पाए जाते हैं। वे मुख्यतः

खेत–मज़दूरी करते थे। संभवतः केवल सुअर पालने और उनका मांस खाने के कारण– वे अस्पृश्य मान लिए गए। कुछ दशकों पहले जातीय पंचायत के एक आदेश से उन्होंने सुअर पालना बंद कर दिया। प्लास्टिक के बढ़ते हुए प्रयोग से सुअर के बालों का औद्योगिक प्रयोग भी बहुत कम हो गया। भूमिहीन होने से ग्राम समाज की थोड़ी–बहुत ज़मीनें और घर बनाने के लिए आर्थिक सहायता उन्हें भी मिली, किंतु चर्मकारों और पासियों में खेत–मज़दूरी अभी बंद नहीं हुई है, मनरेगा की बदौलत अब नक़द मिलने वाली मज़दूरी में काफ़ी बढ़ोत्तरी हुई है। हेला जाति के लोग बहुत कम पाये जाते हैं। वे मृत जानवरों की आँत से ताँत खींचकर, उससे बाँधकर सरकंडे से सूप बनाते हैं, जिसका प्रयोग घर में हर अनाज फटकने के लिए होता है, सूप को मांगलिक कार्यों में बहुत शुभ भी माना जाता है, किंतु उन्हें बनाने वाले अस्पृश्य माने जाते थे। चंडाल या चांडाल भिन्न–भिन्न इलाक़ों में भिन्न–भिन्न काम करते हुए पाए जाते हैं। स्मृतियाँ इन्हें ब्राह्मण स्त्री और शूद्र पुरुष के प्रतिलोम सम्बंध से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति बताती हैं। रजक कपड़े धोने का काम करते हैं जिसमें प्रसूति–काल के कपड़े भी शामिल होते हैं। कुछ नैष्ठिक ब्राह्मण रजक का धोया कपड़ा नहीं पहनते थे, वे घर पर ही अपने कपड़े धोते या धुलवाते थे, किंतु शेष सभी उनके द्वारा धुला हुआ कपड़ा तो पहनते थे पर उन्हें अस्पृश्य मानते थे। अस्पृश्यता की संस्था में हिंदू समाज का ढोंग पग–पग पर झलकता है।

एक पेचीदा सवाल यह भी है कि अधिकांश स्मृतियाँ केवल चांडाल, स्वपाक (स्वपच), चर्मकार और रजक को अंत्यजों में शामिल करती हैं जबकि 1935 के अधिनियम में संलग्न सूची में सर्वेक्षण के आधार पर कुल 429 जातियाँ– अस्पृश्य बताई गई हैं। यह शास्त्रों की नहीं, हिंदू समाज की करतूत है।

डॉ. अम्बेडकर के आजीवन किए गए अथक प्रयासों, उनकी अध्यक्षता में ड्राफ़्ट किए गए संविधान के प्रावधानों और वयस्क मताधिकार के प्रतिफल में धीरे–धीरे बढ़ती सत्ता में दलित समाज की भागेदारी ने उसकी दशा सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। किंतु क्रीमी लेयर का प्रावधान न होने से उसका सबसे दलित तबक़ा, जो सुविधा का पहला हक़दार है, जहाँ था, लगभग वहीं पड़ा रह गया है, और लाभान्वित होने वाला तबक़ा उस तबक़े के लाभ के हिस्से को भी हड़प ले रहा है। इससे दलित वर्ग में क्षैतिज विभाजन से दो उपवर्ग बनते जा रहे हैं जिनमें आकाश–पाताल का अंतर है और यह अंतर बढ़ता ही जाने वाला है– यह शोचनीय स्थिति है।

उससे भी अधिक शोचनीय यह है कि सवर्ण समुदाय, विशेषकर ब्राह्मण समुदाय, जिनके पुरखों का इस अनन्य रूप से क्रूर और अमानवीय संस्था के उदय के पीछे हाथ बनता है, उनके इस कृत्य पर तनिक भी क्षोभ या पश्चात्ताप अनुभव नहीं करता। इसके विपरीत वह आरक्षण को लेकर पीड़ित की मानसिकता में दिखाई पड़ता है। मनुष्य का स्वभाव, कुछ–कुछ यही स्थिति हमारे मुसलमान भाइयों की है, जिनके निकट के पुरखे ऐन मौक़े पर गाँधी, नेहरू तथा रफ़ी अहमद किदवई, मौलाना आज़ाद एवं अन्य राष्ट्रवादी मुसलमानों की बात न सुनकर, जिन्ना द्वारा फैलाए जा रहे धार्मिक उन्माद के शिकार बन गए, जिससे इस उपमहाद्वीप का भविष्य हमेशा के लिए अंधकारमय हो गया। सही है कि हम अपने पुरखों के कृत्यों के लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं किंतु जेन्यूइन पश्चात्ताप–भाव खंडित सामाजिक सौहार्द के लिए बहुत कारगर औषधि का काम करता है और जैसे बुराई, बुराई को प्रेरित करती है वैसे ही अच्छाई, अच्छाई को भी प्रेरित करती है, मात्रा का अंतर हो सकता है।

★

सर्वोदय की भारतीय चेतना और नारी

आकांक्षा अग्निहोत्री*

प्रत्येक देश की उन्नति में उस देश की सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक पृष्ठभूमि का विशेष योगदान होता है। ऐसे ही हमारे देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में वसुधैव कुटुंबकम की विचारधारा व्याप्त है। कृति से कृति परंपरा जारी रहती है, और उसमें से संस्कृति निर्माण होती है। कृति अर्थात कार्य किसी एक ऋषि ने सर्वप्रथम मांसाहार त्याग का प्रयोग किया उसके बहुत अच्छे शारीरिक मानसिक परिणाम निकले, तो उस कृति को कीर्ति ने फैलाया तदनुसार दूसरों ने भी प्रयोग किए, उनकी परंपरा चली इस प्रकार समाज की संस्कृति बनती है। इसी प्रकार हमारी संस्कृति में वसुधैव कुटुंबकम व्याप्त है। भारतीय परंपरा में वसुधैव कुटुंबकम कोई नया शब्द नहीं है। हमारे वेदों में भी ''सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय'' का जिक्र है, जो सभी मनुष्यों के हित एवं एवं सुख की कामना करता है। ''सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामया सर्वे भद्राणि पश्यंतु मां कश्चित् दुख भाग भवेत्'' उपरोक्त श्लोक में भी सभी मनुष्यों के सुखी एवं निरोग रहने की कामना की गई है, जोकि वसुधैव कुटुंबकम का सार है।

आधुनिक समय में वसुधैव कुटुंबकम की विचारधारा को अपनाने वाले दो मनीषियों का नाम सदैव अविस्मरणीय रहेगा– पहले महात्मा गांधी और दूसरे विनोबा भावे का। वसुधैव कुटुंबकम की धारणा को जीवंत स्वरूप प्रदान करते हुए गांधी जी ने सर्वप्रथम सर्वोदय शब्द प्रयोग किया है, वैसे प्रारंभ में सर्वोदय शब्द का प्रयोग जॉन रस्किन की विख्यात पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट' का सार प्रकट करने हेतु गांधी जी ने किया था। गांधी जी ने कहा था– ''हम अपने देश के लिए स्वतंत्रता चाहते हैं, पर दूसरों का शोषण करके या उन्हें नुकसान पहुंचा कर नहीं मेरे देश को स्वतंत्र होना चाहिए जिससे यदि जरूरत हो तो वह संसार के फायदे के लिए मर सके। राष्ट्रीयता की मेरी धारणा यह है, कि मेरा देश इसलिए मर सके कि मानव जाति जीवित रह सके। इसमें जाति–द्वेष के लिए कोई जगह नहीं है।''[1] गांधी जी के इस कथन से ही हमें ज्ञात हो जाता है कि हमारे देश को आजादी सिर्फ अपने देशवासियों के लिए ही नहीं अपितु इस संसार के कल्याण के लिए भी चाहिए थी।

गांधीजी के सर्वोदय को आगे बढ़ाने तथा लोगों तक पहुंचाने का कार्य विनोबा जी ने किया। सर्वोदय जैसा नाम से ही प्रकट है– सब का उदय सबका विकास। सर्वोदय वेदांत दर्शन का व्यावहारिक रूप है। यह आध्यात्मिक विचारधारा है, जो पाश्चात्य समाजवाद, मार्क्सवाद, उपयोगितावाद से बिल्कुल भिन्न है। सर्वोदय एक प्रकार से व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में क्रांति का रूप है। यह राम राज्य की विचारधारा के समान ही है, जिस प्रकार राम राज्य में प्रत्येक व्यक्ति खुशहाल एवं सुखी हो ऐसी कामना प्रभु राम के द्वारा की गई थी ऐसी ही विचारधारा सर्वोदय में व्याप्त है। राम राज्य में जिस प्रकार स्वतंत्रता, समानता, न्याय, बंधुत्व के दर्शन होते हैं, उन्हीं आदर्शों को सर्वोदय में आत्मसात् किया गया है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि सर्वोदय रामराज्य के दर्शन पर पूर्णता आधारित है। सर्वोदय में व्यक्ति की व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा तो हो सकती है, विचारों में भिन्नता भी हो सकती है, परंतु सर्वहित की कामना भी होती है। विनोबा जी ने सर्वोदय के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया मनुष्य में आदर्श बाह्य–प्रतिबंधों से अथवा आंदोलन से उत्पन्न नहीं किए जा सकते है, वे आंतरिक प्रेरणा एवं आध्यात्मिकता से ही आ सकते हैं। प्रत्येक धर्म में सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह की व्याख्या है। सत्य अहिंसा के दर्शन तो हमें गांधीजी के आंदोलन में साक्षात् दिखाई देते हैं, किंतु अपरिग्रह के दर्शन हमें सर्वोदय में दिखाई पड़ते हैं। अपरिग्रह अर्थात् उतनी ही भौतिक चीजों को अपने पास रखना जितनी आवश्यकता है, शेष समाज के कल्याण के लिए दान कर देना। ''सर्वोदय ऐसे वर्ग हीन जाति विहीन और शोषण विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर मिलेंगे। यह क्रांति अहिंसा और सत्य द्वारा ही संभव है। सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता है।''[2] विनोबा कहते हैं– ''सर्वोदय में शांति और साधन

***शोधार्थी, अनुस्नातक इतिहास विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय वल्लभविद्यानगर, गुजरात।**

दोनों की पवित्रता आवश्यक है। पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन भी पवित्र ही होने चाहिए क्योंकि साधन की अपवित्रता लक्ष्य की पवित्रता को समाप्त कर देती है। नैतिकता सर्वोदय का मूल मंत्र है।''[3]

समाज में यदि व्यक्ति केवल व्यक्तिगत उन्नति के लिए प्रयत्न रहता है, ऐसे समाज में संघर्ष स्वाभाविक है। जिस समाज में सबकी उन्नति के कार्य होते हैं, वहां सामाजिक संघर्ष के दर्शन नगण्य मात्र हैं। ''सर्वोदय यह स्वीकार नहीं करता कि मानव का परस्पर विरोध हो या एक का हित दूसरे के हित के विरुद्ध हो। विचार भेद हो सकता है, लेकिन हित विरोध नहीं। भिन्न–भिन्न विचार हो तो ऐसे अनेक विचार मिलकर एक पूर्ण विचार बन सकता है, क्योंकि किसी एक आदमी को पूर्ण विचार सूझे, यह संभव नहीं है। यह एक को एक अंग सूझेगा दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा इस तरह मिलाकर एक पूर्ण विचार होगा इसलिए विचार भेदों का होना जरूरी है, इसमें दोष नहीं बल्कि गुण ही हैं, लेकिन हितों में विरोध नहीं होना चाहिए।''[4]

सर्वोदय का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को आत्मनिर्भर बनाना रहा है, ताकि समाज का कोई भी मनुष्य अपनी आवश्यकता के लिए दूसरे पर निर्भर न रहे। सर्वोदय मुख्यतः ग्रामीण सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में अधिक उपयोगी सिद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि भारत एक कृषि प्रधान देश है। ''सर्वोदय दर्शन गांधी जी के स्वदेशी आंदोलन एवं स्वराज के महत्वपूर्ण सिद्धांतों से प्रेरित है, अर्थात् हमें अपने उपयोग की वस्तुओं का सृजन स्वयं करना है, उदाहरण– वस्त्र, भोजन। ''सर्वोदय में आत्मनिर्भरता का भाव निहित है। इससे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें अपनी कमाई का खाना चाहिए दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए। हमें अपना भार दूसरों पर नहीं डालना चाहिए। दूसरे का धन किसी तरह ले लें। इसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता है। कमाई का अर्थ है– प्रत्यक्ष पैदाइश। यदि हम इन दो नियमों का पालन करें तो सर्वोदय समाज का प्रचार दुनिया में हो सकेगा।''[5] सर्वोदय श्रम, संघवाद, मार्क्सवाद, श्रेणी समाजवाद, साम्यवाद से बहुत भिन्न है। यह मनुष्य में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करते हैं, जबकि सर्वोदय में मनुष्य को जोड़ने का कार्य किया जाता है। सर्वोदय सामाजिक रूप से समानता का पक्षधर है, चाहे वह समानता स्त्री–पुरुष में हो अथवा ऊंच–नीच में हो अर्थात् जातिगत हो। सर्वोदय के अनुसार शारीरिक श्रम एवं बौद्धिक श्रम को बराबर का महत्व मिलना चाहिए। इसके अनुसार आश्रम व्यवस्था का पालन करते हुए वर्ण व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए जबकि कुछ मूल तत्व जो वैज्ञानिक तर्क पर आधारित है, उसे अपना लेना चाहिए। सर्वोदय मुख्यतः ग्रामीण सभ्यता के विकास में सहायक प्रतीक होता है। भारतीय समाज में एक समय किसी एक के पास बहुत सारी भूमि, तथा कुछ के पास बिल्कुल नहीं थी। दूसरा वर्ग अपना पालन पहले की भूमि पर कार्य करके करता था अतः विनोबाजी के अनुसार सभी की भूमि सभी के लिए अर्थात् एक परिवार ने अपने उपयोग के हिसाब भूमि ले ली तथा बची हुई भूमि उस कृषक को दी जिसके पास भूमि का एक टुकड़ा भी नहीं है, फिर जब सभी के पास भूमि हो जाए तो सभी पूरे श्रम से उस पर कृषि कर अनाज उत्पादन करें और उस अनाज से भी कुछ अंश आश्रितों, अपंगों, वृद्धों एवं विवाह के लिए निकाल कर रखें। विनोबाजी के सर्वोदय को सफल बनाने का सबसे अधिक श्रेय नारियों को जाता है, क्योंकि प्रतिदिन वह सर्वोदय पात्र में भोजन से पूर्व अपने बालक के हाथों अनाज डलवाती है। यह कार्य कोई साधारण कार्य नहीं है। यही कारण है कि गांधीजी और विनोबाजी ने अपने प्रत्येक आंदोलन में नारियों का आह्वाहन किया है।

सर्वोदय की आर्थिक पृष्ठभूमि में सादा एवं सरल जीवन, विकेंद्रीकरण, स्वावलंबन एवं सहयोग है। सादा एवं सरल जीवन उच्च मानसिक जीवन एवं आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है। जितने कम भौतिक वस्तुओं का उपयोग करेंगे मन उतना ही स्थिर होता जाएगा। विकेंद्रीकरण अर्थात् ऐसे आविष्कार होने चाहिए जिससे गृह उद्योग, लघु उद्योग को प्रोत्साहन मिले; मूल में भले ही बड़े पैमाने वाले उद्योग रहे परंतु गृह उद्योग को बढ़ावा मिले। स्वावलंबन अर्थात प्रत्येक गांव अपने आवश्यकता की वस्तुएं स्वयं उत्पादन करें अथवा पास के गांव से मदद लेकर उत्पादन करें। सहयोग प्रत्येक गांव का प्रत्येक परिवार एक दूसरे का सहयोग करें दूसरे शब्दों में सर्वोदय पात्र के माध्यम से दूसरे की मदद करें।

सर्वोदय की राजनीतिक संरचना, आधुनिक राजनीतिक संगठन के विरुद्ध है। सर्वोदय के अनुसार हमें समाज के नियंत्रण के लिए सेना, पुलिस की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। विनोबा जी ने इसे लोकनीति कहा है, इसे ही सच्ची लोकशाही कहा है। समाज में डरा–धमकाकर या भय उत्पन्न कर सही रास्ते पर नहीं लाना है, बल्कि समझा–बुझाकर अथवा हृदय परिवर्तन करके बुरी प्रवृत्तियों को नाश करना है

एवं सद प्रवृत्तियों को उजागर करना है। सर्वोदय में एक लोक–कल्याणकारी समाज की कल्पना की है, जहाँ न वर्ग–संघर्ष हो, न ही जाति–संघर्ष। विनोबा जी ने सर्वोदय क्रांति के बारे में लिखा है ''सर्वोदय क्रांति की प्रक्रिया त्रिकोणात्मक है। यह त्रिभुज हृदय–परिवर्तन, विचार–परिवर्तन तथा परिस्थिति–परिवर्तन की तीन रेखाओं से निर्मित होता है। इसका आशय है कि कुछ लोग तो विचार समझ जाने पर अपना जीवन बदल लेते है, कुछ के हृदय पर प्रभाव डालना पड़ता है और शेष परिस्थिति से मजबूर होकर अपना जीवन बदलते हैं। इस प्रकार समस्त समाज बदल जाता है। असल परिवर्तन तो जीवन के मूल्यों का ही परिवर्तन है।''[6]

विनोबाजी अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिर सत्य एवं अहिंसा के समर्थक थे। जय हिंद के स्थान पर उन्होंने जय जगत् का नारा दिया अर्थात् वसुधैव कुटुंबकम। विनोबा जी ने एक ऐसे अंतरराष्ट्रीय समाज की कल्पना की जिसमें इंसान द्वारा खड़ी की गई दीवारें नहीं होंगी तथा लोगों को दूसरे देशों में जाने अध्ययन तथा व्यापार करने की उसी तरह छूट होगी जैसा कि नागरिकों को अपने देश में होती है। विनोबा एक विश्व सरकार के समर्थक थे। गांधीजी के सर्वोदय को उसके लक्ष्य तक पहुंचाने का काम विनोबाजी ने किया इसके दर्शन हमें तेलंगाना की समस्या को सुलझाने में दिखाई देते है। विनोबा जी ने स्वयं कहा था– मुझे वहां से मानवता का साक्षात्कार हुआ। सर्वोदय में भूदान, श्रमदान, बुद्धि–दान, ग्रामदान, संपत्ति दान, जीवन दान आदि कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया है। सर्वोदय को सफल बनाने के लिए भूदान अर्थात मनुष्य के पास भूमि अधिक है, तो भूमि का दान। श्रमदान अर्थात् श्रम का दान परिश्रम करना। बुद्धि दान अर्थात् यदि कोई अध्यापक है, तो वह मुफ़्त शिक्षा प्रदान करें। डॉक्टर है तो मुफ़्त चिकित्सा एवं वकील है तो मुफ़्त वकालत करें। संपत्ति दान मुख्यतः नगरों के लिए था अर्थात् अपनी संपत्ति का दान। सर्वोदय दर्शन की उत्पत्ति का मुख्य कारण गाँव का संरक्षण था, क्योंकि भारत एक कृषि प्रधान देश है, और हमारे आधी जनसंख्या गांव में निवास करती है। गांव के लोगों के सामने समस्याएं न उत्पन्न हो, वह नगरों की तरफ पलायन न करें एवं नगरों को बढ़ावा न मिले। सर्वोदय इसी का परिचायक है। भारत की मूल सभ्यता हमें आज भी गाँवों में ही दिखती है और इसी सभ्यता एवं संस्कृति के संरक्षण एवं इसकी पराकाष्ठा तक पहुंचाने का कार्य सर्वोदय ने ही किया। इसके दर्शन गांव में परिलक्षित हैं, जहाँ नगर में पड़ोसियों को दूसरे का नाम तक पता नहीं होता वही गांव में आज भी मनुष्य दूसरे की सहायतार्थ हमेशा खड़ा रहता है, यही तो गांधी एवं विनोबा जी का सर्वोदय है।

विनोबा जी के विचार नारियों के संदर्भ में बहुत अलग एवं महत्वपूर्ण रहे हैं। विनोबाजी के अनुसार हम नारी को अबला अथवा महिला शब्द से उद्बोधित करते हैं। अबला अर्थात दुर्बल रक्षिणी जिसकी रक्षा दूसरों को करनी पड़े और महिला का अर्थ होता है– महान, बहुत बड़ी ताकत वाली। यह महिला शब्द स्त्रियों ने तय किया है। विनोबाजी के अनुसार केवल भारतीय संस्कृत में ही नारियों को महिला कहते हैं। अन्य किसी संस्कृति में नहीं। विनोबा जी ने स्त्री को शक्ति स्वरूपा बताया है। उनके अनुसार हम भारत में राधा–कृष्ण, सीताराम एवं शिव को भी अर्धनारीश्वर के रूप में पूजते हैं। हमारे भारतीय समाज में तो नारी का नाम पहले एवं पुरुष का बाद में आता है। आज भी हमारे समाज में पहले माता का नाम, इसके पश्चात पिता का नाम लेने की परंपरा है। ऐसी है हमारी संस्कृति। ''स्त्री शब्द स्तृ से धातु से बना है। स्तृ का अर्थ है– विस्तार करना, फैलाना। स्त्री यानी प्रेम को कुल दुनिया में फैलाने वाली। स्त्री शब्द में ही स्त्री का कार्य सूचित किया गया है। प्रेम का विस्तार, प्रेम की व्यापकता स्त्री के द्वारा होगी।''[7]

हम भारतीय संस्कृति में नदियों को भी माँ बताते हैं। माँ अत्यंत पावन शब्द है। विनोबा जी के अनुसार स्त्री शक्ति जागरण का काम भारतीय संस्कृति में भगवान कृष्ण ने, महावीर स्वामी ने एवं गांधी जी ने व्यापक पैमाने पर किया। भगवान श्री कृष्ण का गोपियों से जो प्रेम था वह तो जग–विख्यात है। महावीर स्वामी ने भी अपने संघ में स्त्रियों के प्रवेश पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं लगाया था एवं गांधीजी ने स्त्रियों के माध्यम से ऐसा कार्य करवाया जो सबसे कठिन था। कृष्ण ने स्त्री पुरुष को भक्ति भावना में समान माना है एवं महावीर ने संन्यास की दीक्षा स्त्रियों को भी दी और गांधी जी ने स्त्रियों की शक्ति में वृद्धि की। गांधीजी ने अनैतिक कार्यों को बंद करने के लिए सबसे ऊंची शक्ति अहिंसा रूपी स्त्री को माना है, जो कार्य स्त्री अपने अहिंसा रूपी स्वभाव से, प्रेम से शांति से कर सकती है, वह शायद पुरुष के लिए संभव नहीं उदाहरण स्वरूप स्वराज आंदोलन में शराब की दुकान की बंदी में स्त्रियों का योगदान, जब अहिल्याबाई के राज्य पर आक्रमण हुआ अहिल्याबाई ने स्त्रियों की एक सेना भेज दी जिसके सामने शत्रु ने शस्त्र त्याग

दिये। उनके अनुसार स्त्री–पुरुष का भेद सिर्फ शारीरिक एवं दैहिक रूप में है। आत्मा में स्त्री पुरुष का कोई भेद नहीं है। प्रत्येक में पुरुष एवं प्रकृति तत्व समान भाव से समाहित है। दोनों की संसार–शक्ति एवं संसार–बंधन भी समान हैं और मोक्ष का अधिकार भी दोनों को समान है। दोनों के जीवन का उद्देश्य भी एक है– पूर्णता प्राप्त करना।

आधुनिक समय में समानता की मांग पर सेना में, पुलिस, ट्रैफिक पुलिस में स्त्रियों की नियुक्ति हो रही है। पर क्या स्त्री शारीरिक बल में पुरुष की समानता कर सकती है?– स्त्रियों का शरीर गर्भधारण के कारण ऐसा होता है। विनोबा जी का विचार था कि स्त्री बच्चों को जन्म भी दे, पालन करें, नौकरी करें एवं खाना बनाये– यह उन पर अत्याचार है। अतः पुरुषों को उनकी मदद करनी चाहिए। इससे उनका तात्पर्य यह है कि ''स्त्री को स्त्री और पुरुष दोनों ही बनना पड़ेगा और पुरुष को पुरुष और स्त्री दोनों ही बनना पड़ेगा।'' पुरुष के अंदर वे गुण होने चाहिए जो स्त्रियों में दया, करुणा, एवं स्त्रियों में वह गुण, जो पुरुषों में होते हैं। विनोबाजी के अनुसार संस्कृति का सारा भार नारियों पर है क्योंकि वे ही घर में बच्चों की पहली पाठशाला होती है। वह जो संस्कार बचपन में अपने बच्चों में डाल देगी वह जीवन पर्यंत उसके साथ रहेगा। यही भारत की परंपरा है, उदाहरण– सुभद्रा ने अपने गर्भ में ही अभिमन्यु को चक्रव्यूह तोड़ने की शिक्षा दी। विनोबाजी के अनुसार नारियों को आत्मनिर्भर होना चाहिए, आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु शारीरिक एवं मानसिक रूप से भी। प्रत्येक स्त्री में भारतीय संस्कृति के प्रति आदर, सम्मान एवं समर्पण होना चाहिए। तभी हमारी संस्कृति का संरक्षण संभव है।

संदर्भ सूची :–

1. विनोबा भावे : मनोज कुमार, रवि रंजन, कल्पना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009, पृ.– 76।
2. सर्वोदय और जयप्रकाश नारायण : ओम प्रकाश शर्मा, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली, पृ.–4।
3. विनोबा भावे, पृ.– 68।
4. वही।
5. वही।
6. विनोबा भावे, पृ.– 74।
7. स्त्री शक्ति जागरण : विनोबा संकलन, संपादन– शीला परधाम प्रकाशन, पवनार, पृ.– 2।

★

स्वाधीनतापूर्व हिन्दी पत्रकारिता की विकास-यात्रा

प्रो. सुधारानी सिंह*

भारत में सामाजिक जागरूकता एवं राष्ट्रीय पुनर्जागरण में विभिन्न साहित्यों एवं पत्र–पत्रिकाओं का विशिष्ट योगदान रहा है। यहाँ पत्रकारिता का उद्भव जनजागरूकता, राष्ट्रीयता बोध, सामाजिकता तथा जनमानस में नवचेतना के विकास की अपेक्षा के साथ हुआ। जब देश में अंग्रेजी और अंग्रेजियत का बोलबाला होता जा रहा था, समाज में भाषा के आधार पर विभेद बढ़ने लगा था तथा सामाजिक विषमताएं बढ़ती जा रही थीं तो समाज में नव–चेतना एवं सुधार लाने तथा सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता की भावना के विकास हेतु हिन्दी की अनेक नवीन विधाओं का सूत्रपात हुआ। इसमें हिन्दी पत्रकारिता भी एक प्रमुख माध्यम बनी।

भारत में हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ 29 जनवरी, 1780 ई0 को जेम्स ऑगस्टस हिक्की के 'बंगाल गजट' से माना जाता है। आज हिन्दी की पत्रकारिता पूरी दुनिया में अपनी पहचान बना चुकी है और बंगाल गजट से शुरू हुआ इसका सफर आज विभिन्न विचारधाराओं, पन्थों, सम्प्रदायों, क्षेत्रों व बोलियों के अलग–अलग रूपों तक पहुंच चुका है। कभी प्रिन्टिंग प्रेस के माध्यम से शुरू हुई पत्रकारिता आज डिजिटल स्वरूप ले चुकी है। हिन्दी पत्रकारिता अनवरत अपने प्रगति पथ पर अग्रसर है। इसमें नित्यप्रति नयी कड़ियां जुड़ती जा रही हैं, जिसके कारण इसका साहित्य भण्डार अत्यन्त समृद्ध हो रहा है। वर्तमान में मीडिया सिर्फ पारंपरिक मीडिया नहीं रह गया है बल्कि समाचार के नवीन स्रोत के रूप में विभिन्न सोशल मीडिया मंचों जैसे– ट्विटर, फेसबुक, इंस्टाग्राम व टेलीग्राम आदि के प्रयोग से पत्रकारिता में अधिक तथ्यात्मकता एवं गत्यात्मकता आ गयी है। आज हिन्दी पत्रकारिता अपने विकास क्रम की ऊचाइयाँ छू रही है किन्तु स्वाधीनता पूर्व इसे अनेक संघर्षों, झंझावातों एवं समस्याओं से गुज़रना पड़ा। अंग्रेजी सरकार से लोहा लेते हुए हिन्दी पत्रकारिता जन–जागरण का एक सशक्त माध्यम बनी रही और इसने लोगों में न केवल राष्ट्रीयता का भाव जगाने का कार्य किया बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, चारित्रिक एवं शैक्षिक पक्षों से जुड़े विभिन्न बिन्दुओं की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। बाल पत्रिकाओं में बच्चों में चरित्र निर्माण, महिला पत्रिकाओं में महिलाओं के विभिन्न पक्षों से जुड़े बिन्दुओं को उठाने तथा स्वास्थ्य पत्रिकाओं में शरीर के आरोग्य हेतु आवश्यक पक्षों को उठाया गया किन्तु मुख्य बिन्दु देश को गुलामी की जंज़ीरों से मुक्त कराने पर केन्द्रित रहा। स्वाधीनता पूर्व हिन्दी समाचार पत्रों ने स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष पत्रकारिता का ज्योतिपुंज प्रकाशित किया।

जेम्स ऑगस्टस हिक्की के निष्पक्ष और बेबाक पत्र 'बंगाल गजट' ने अंग्रेज़ी हुकूमत को चिन्ता में डाल दिया और अंग्रेज गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने 14 नवम्बर, 1780 ई0 को इसे डाक द्वारा बाहर भेजे जाने पर प्रतिबन्ध लगाये जाने का आदेश दे दिया किन्तु हिक्की ने निरन्तर अंग्रेजी सरकार के नियुक्ति एवं व्यापार सम्बन्धी पक्षपातों और धांधलियों को उजागर करना जारी रखा। अंग्रेजी सरकार की विभिन्न पाबन्दियों के कारण इस समाचार पत्र को सन् 1785 ई0 में बन्द करना पड़ा। इतना ही नहीं, हिक्की और 'द बंगाल जर्नल' के सम्पादक 'विलियम डुआने' को सरकार विरोधी गतिविधियों में संलिप्तता का दोष लगाकर इंग्लैण्ड भेज दिया गया।[1]

देश में पत्रकारिता का आरम्भिक काल अत्यन्त कठिन एवं चुनौतीपूर्ण था। इस समय प्रकाशित अखबारों पर अंग्रेजी सरकार की दमनकारी नीति पूर्णतः प्रभावी रही। अंग्रेजी सरकार यह कदापि नहीं चाहती थी कि भारत के लोग विभिन्न सूचना माध्यमों द्वारा आपस में जुड़ सकें। इसलिए वे भारत में प्रकाशित होने वाले प्रत्येक समाचार पत्र को आशंका की दृष्टि से देखते थे। अंग्रेजों की इसी शंका के कारण भारतीय समाचार–पत्रों की स्वतंत्रता पर अनेकानेक प्रहार किये गये। जिन समाचार–पत्रों का क्रिश्चियन मिशनरी द्वारा संचालन हुआ करता था, उन्हें ब्रिटिश सरकार प्रोत्साहन देती थी। इसी प्रोत्साहन के बल पर हिंदी के प्रमुख केन्द्रों से भी ईसाई पत्रों का प्रकाशन व प्रसारण होने लगा था। ये मिशनरी पत्र भारत के सांस्कृतिक गौरव का विनाश करना चाहते थे।

***डी. लिट्., हिन्दी विभागाध्यक्ष, श0 मं0 पा0 राजकीय महिला स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, मेरठ।**

इस तरह के अन्याय को राजा राममोहन राय सहन नहीं कर पाये और उन्होंने पत्र–प्रकाशन के अपने लक्ष्य को इस प्रकार स्पष्ट किया–''मेरा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि मैं जनता के सामने ऐसे बौद्धिक निबंध उपस्थित करूं जो उनके अनुभव को बढ़ायें और सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध हों।''[2]

प्रारम्भिक समय में जिन समाचार पत्रों का प्रकाशन भारत में हुआ, उन पत्रों को अंग्रेज शासक इंग्लिश में छपवाते थे। इन समाचार पत्रों का काम जनता के लिए मनोरंजन की सामग्री व सूचनाएं देना था। ये पत्र राजनीति से संबंधित नहीं होते थे। सन् 1818 ई0 से पहले भारतीय भाषाओं में समाचार पत्र प्रकाशित नहीं हुए। पहला भारतीय समाचार पत्र 'दिग्दर्शन' बंगाली भाषा में सन् 1818 ई0 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद सन् 1822 ई0 में 'समाचार चंद्रिका' प्रकाशित किया गया। भारत में हिन्दी भाषा के प्रथम समाचार पत्र 'उदंत मार्तण्ड' का प्रकाशन 'हिन्दुस्तानियों के हित के हेत' अर्थात् उन्हें परावलंबन से मुक्ति दिलाकर स्वतंत्र दृष्टि प्रदान करने के निमित्त हुआ था। हिंदी के इस पत्र की मूल प्रतिज्ञा 'हिंदुस्तानियों के हित के हेत' ही थी। इसे हिंदी–पत्रकारिता की आदि–प्रतिज्ञा माना जाता है।[3]

पं0 जुगुल किशोर शुक्ल ने देश में सांस्कृतिक चेतना जाग्रत करने के कार्य में अपना शरीर जर्जर कर लिया था। लेकिन आर्थिक अभाव की भयानक मार उन्हें कभी हतोत्साहित नहीं कर सकी और सन् 1850 ई0 में उन्होंने 'साम्यदण्ड मार्तण्ड' प्रकाशित कर देश व समाज की सेवा की। राजा राममोहन राय ने 9 मई, 1829 ई0 को कलकत्ता से हिंदी, अंग्रेजी, फारसी तथा बांग्ला भाषाओं में 'बंगदूत' पत्र निकाला जिसके सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक सुधारवादी उद्देश्य को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था कि– ''भारतखंड की तरुणाई जो राजनीति, व्यापार, विद्या, अभ्यास के प्रकार देश के सब समाचार, देशांतर की विद्या और सुघरता के प्रसंग के लिए शास्त्रार्थ युक्त यह समाचार पत्र बांग्ला और काम पड़े तो फारसी और हिंदी भाषा में प्रति सप्ताह छपेगा।''

वर्ष 1829 ई0 को कलकत्ता से ही विविध पत्र प्रकाशित हुए जिन्होंने देशी एवं अंग्रेजी भाषाओं के माध्यम से समाज को जागरूक किया। बहुत से अंग्रेज संपादक भी राजा राममोहन राय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा द्वारिकानाथ ठाकुर जैसे उदार समाज सुधारक भारतीयों के सम्पर्क में आने से भारतीय हित के समर्थक हो गये थे। सन् 1857 ई0 में नानासाहब के परामर्शदाता अजीमुल्ला खां और संपादक प्रिंस बेदार बख्त ने हिंदी और उर्दू भाषा में 'पयामे–आजादी' नामक अखबार दिल्ली से प्रकाशित किया।[4] ईश्वर चंद्र विद्यासागर एवं पं0 द्वारिकानाथ विद्याभूषण ने समाज सुधारवादी 'सोमप्रकाश' नामक बांग्ला पत्र निकाला। समाचार–पत्रों की बढ़ती बाढ़ को रोकने के लिए लार्ड कैनिंग ने 13 जून, 1857 को सम्पूर्ण भारत के पत्रों पर 'एडम रेग्यूलेशन' नामक गलाघोंटू कानून (गैगिंग एक्ट) लागू कर दिया, जिसके फलस्वरूप 'दूरबीन', 'सुलतान– उल–अखबार', 'समाचार सुधावर्षण' आदि पत्रों पर मुकदमे चलाये गये और अनेक पत्रों को बंद कर दिया गया।

लार्ड लिटन ने 14 मार्च, 1878 ई0 को 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' लागू कर दिया जिसके अनुसार पत्रों का प्रकाशन केवल अंग्रेजी भाषा में ही किया जा सकता था, किंतु शिशिर घोष ने 21 मार्च, 1878 ई0 को 'अमृत बाजार पत्रिका' को अंग्रेजी में छापकर लार्ड लिटन को हतप्रभ कर दिया और 'अमृत बाजार पत्रिका' सतत् रूप से प्रकाशित होती रही। द्वारिकानाथ विद्याभूषण का 'सोमप्रकाश' पत्र इस एक्ट का शिकार हो गया। रूस 'पत्रिका' की प्रति मंगाकर उसे रूसी भाषा में अनूदित कर वितरित करता था क्योंकि यह 'पत्रिका' अंग्रेज सरकार की निर्भीक तथा निष्पक्ष आलोचक थी। 18 मार्च, 1835 में आनंद राय द्वारा प्रकाशित 'पूनावार्ता', 1849 में 'ज्ञान प्रकाश', बंबई से 'इंदु प्रकाश', गुजराती साप्ताहिक 'प्रजाबंधु' आदि पत्रिकाओं ने राष्ट्रीय चेतना एवं देश–प्रेम की चिंगारी को जन–मानस में सुलगाने का कार्य आरम्भ कर दिया था। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने देवनागरी लिपि में 'बनारस अख़बार' जून, 1845 ई0 में प्रकाशित किया था।[5] यह पत्रिका सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा एवं इसके प्रचार–प्रसार के साथ ही स्थानीय समस्याओं पर सरकार का ध्यान आकर्षित किया करती थी। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात 17 मई, 1878 ई0 को पं0 छोटूलाल मिश्र एवं पं0 दुर्गाप्रसाद मिश्र ने मिलकर हिन्दी समाचार पत्र 'भारत मित्र' का प्रकाशन किया जो आरम्भ में पाक्षिक था किन्तु बाद में साप्ताहिक और सन् 1897 ई0 में दैनिक संस्करण के रूप में प्रकाशित होने लगा।[6] 13 जनवरी, 1879 ई0 को पं0 सदानन्द मिश्र द्वारा 'सारसुधानिधि' नामक पत्र का प्रकाशन किया गया। यह ऐसा पत्र था जो सरकार की गलत नीतियों एवं उनके दमन की तीखी आलोचना करता था। सरकार की आलोचना के कारण सन् 1890 में इस पर पूर्ण

प्रतिबन्ध लगाकर इसे बन्द कर दिया गया। पत्रकारिता की इस विकास यात्रा में एक महान कड़ी 7 अगस्त, 1880 ई0 को पं0 दुर्गाप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित पत्र 'उचित वक्ता' के प्रकाशन से जुड़ गयी। इस पत्र में निर्भीक, निष्पक्ष एवं गौरवपूर्ण पत्रकारिता के पूर्ण लक्षण दृष्टिगत होते हैं। इस पीढ़ी के पत्रकारों का मानना था कि समाचार पत्र प्रजा का सच्चा प्रतिनिधि एवं सन्देशवाहक होता है। सन् 1868 ई0 से लेकर सन् 1900 ई0 तक की कालावधि में भारतेंदु हरिश्चन्द्र, पं0 केशव राम भट्ट, कश्मीरी पंडित श्री मुकुंद राम, दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं0 गोविंद नारायण मिश्र, महाराणा सज्जन सिंह, बाबू रामकृष्ण मुंशी समर्थदान, सेठ खेमराज बजाज तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने अपनी पत्र–पत्रिकाओं के द्वारा जन–जन के मानस में राष्ट्रीय भावना एवं चेतना की धारा को प्रवाहित कर दिया था।

देश में गरीबी, भुखमरी और अकाल के कारण भारतीय समाज की पीड़ा जितनी असह्य एवं तीव्र थी, अंग्रेजों का अत्याचार उतना ही घातक था। परंतु इन मुसीबतों के बाद भी समाज के हृदय की धड़कन बंद नहीं हुई थी, क्योंकि 'आत्मीय सभा' (1814), 'सोसाइटी फॉर द एक्वीजिशन ऑफ जनरल नॉलेज' (1838), 'इण्डियन पैट्रियाटिक एसोसिएशन' (8 फरवरी, 1888), 'देश हितैषिणी सभा' (2 जुलाई, 1877), द्वारिकानाथ ठाकुर द्वारा स्थापित बंगाल ब्रिटिश–इण्डियन सोसाइटी' (20 अप्रैल, 1843), 'जमींदार सभा' (1838), 'ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन' (1851) दादाभाई नौरोजी तथा नौरोजी फर्दून जी आदि द्वारा स्थापित 'द बॉम्बे एसोसिएशन' (1882) ने भारतीय जनता के सुषुप्त हृदय को राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना की फुहारों से सराबोर कर दिया था। 'कविवचन सुधा' के अनुसार सन् 1884 ई0 तक 43 स्वदेशी संस्थाओं ने राष्ट्रीय चेतना के दीपक को प्रज्ज्वलित रखने के लिए अपने परिश्रम का तेल प्रदान किया। इस प्रोत्साहन के फलस्वरूप राष्ट्रीय चेतना को सशक्त एवं ओजस्वी बनाने के लिए अनेक पत्र–पत्रिकाओं का जन्म हुआ। काशी से प्रकाशित 'भारत जीवन' तत्कालीन सर्वाधिक दीर्घजीवी साप्ताहिक पत्र था। 'भारत जीवन' (1884) के संपादकों में सर्वश्री रामकृष्ण वर्मा, कार्तिक प्रसाद खत्री, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (बेढ़ब बनारसी) आदि भी रहे हैं। यह पत्र तीस वर्ष तक निरंतर भारत समाज की सेवा करता रहा। सन् 1914 ई0 में प्रथम युद्ध के समय भी रामकृष्ण वर्मा के संपादन में यह दैनिक रूप में प्रकाशित हुआ था।[7]

सन् 1892 ई0 में पं0 गौरीदत्त शुक्ल ने 'देवनागरी प्रचारक' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित करके देवनागरी लिपि के उत्थान पर बल दिया। पं0 हृशिकेश शास्त्री ने 'विद्योदय' (1982) तथा पं0 राम नारायण ने 'धर्मोपदेशक' (1903) पत्रिकाओं को हिन्दी तथा संस्कृत में प्रकाशित किया। सन् 1907 ई0 में एक लिपि विस्तार परिषद के सान्निध्य में उमादत्त शर्मा तथा यशोदानन्द अखौरी ने 'देवनागर' नामक पत्रिका में विविध भाषाओं की अध्ययन सामग्री को देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया। भारतीय संस्कृति के मुख्य स्तम्भ नृत्य, संगीत एवं वास्तुकला की रक्षा के लिए देवकीनन्दन द्वारा 1899 ई0 में 'नृत्यपत्र', पं0 ठाकुरराम द्वारा सन् 1905 ई0 में 'संगीतामृतक प्रवाह', सेठ शिवनारायण द्वारा सन् 1914 ई0 में 'शिल्पकला', प्रतिमा देवी तथा इंदिरा देवी द्वारा सन् 1914 ई0 में 'आनन्द संगीत' पत्रिका का प्रकाशन किया।[8] इस कालखण्ड में जाति विशेष की पत्र–पत्रिकाओं का भी विशेष योगदान रहा। 'कायस्थ समाचार', 'क्षत्रिय पत्रिका', 'कुलश्रेष्ठ समाचार', 'कान्यकुब्ज प्रकाश', 'खत्री अधिकारी', 'जाट समाचार', 'ब्राह्मण समाचार', 'भट्ट भास्कर', 'माहेश्वरी', 'वैष्णव हितकारी', 'भार्गव पत्रिका', 'मारवाड़ी गजट', 'माथुर–वैश्य सुखदायक' आदि अनेक सांप्रदायिक एवं जातीय पत्रिकाओं ने भी अपने जातीय संस्कारों के उद्देश्य के माध्यम से सामाजिक दायित्व निभाया था।

भारत में हिन्दी पत्रकारिता, सामाजिक चेतना एवं धार्मिक सहिष्णुता के साथ–साथ महिला सशक्तीकरण एवं उनकी स्वाधीनता में भागीदारी व उनकी समाज में उपयोगिता को केन्द्र में रखकर अनेक पत्र–पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। भारतीय पत्रकारिता में नारी के स्वाधीन, मानवतावादी, सहधर्मिणी, सह–कर्मिणी एवं सहचारिणी स्वरूप को उभारने का प्रयास किया गया। समाज में महिलाओं की विभिन्न समस्याओं जैसे– पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, बाल विवाह, महिला अशिक्षा, विधवा पुनर्विवाह पर रोक आदि पर अनेक पत्र–पत्रिकाओं में जागरूकता एवं कटु आलोचनाएं प्रकाशित की गयीं।

भारतेन्दु काल से लेकर स्वाधीनता काल तक भारत में पत्रकारिता बहुआयामी विकास को प्राप्त कर चुकी थी। इस समय जाति आधारित, लिंग आधारित, क्षेत्र आधारित तथा भाषा आधारित पत्रकारिता अत्यन्त समृद्ध हो चुकी थी। स्त्रियों की दशा पर आधारित महिला विशेष पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थीं। इसी प्रकार

बालकों के मनोरंजन, स्वास्थ्य, उनके खान–पान, रहन–सहन, पढ़ाई–लिखाई, सामाजिक एवं पारिवारिक दायित्वोन्मुख बाल पत्र–पत्रिकाओं का सम्पादन किया जा रहा था। देश के भावी कर्णधार बालकों के सुपोषण की मार्गदर्शक विभिन्न पत्र–पत्रिकाएं थीं। देश में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना जागृत करने के साथ–साथ पत्रकारिता ने स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के क्षेत्र में बढ़ते अंग्रेजी दवाओं के वर्चस्व तथा आयुर्वेदिक, यूनानी एवं होमियोपैथिक दवाओं या चिकित्सा पद्धतियों की उपेक्षा को भी प्रमुखता से प्रकाशित कर स्वदेशी चिकित्सा पद्धति का व्यापक प्रचार–प्रसार किया।

अंग्रेज शासकों ने अपने आर्थिक एवं व्यापारिक लाभ के लिए भारतीय अर्थतंत्र का पूर्ण रूप से दोहन एवं शोषण कर उसे जीर्ण–क्षीण कर दिया था। ऐसे समय में 'भारतमित्र', 'ब्राह्मण', 'सार सुधानिधि', 'कविवचन सुधा', 'भारतदुर्दशा प्रवर्तक', 'शुभचिंतक', 'साहित्य सरोज', 'भारत मित्र', 'विशाल भारत', 'हंस' आदि पत्र–पत्रिकाओं ने भारतीय मजदूरों, किसानों, व्यापारियों तथा जन–साधारण को आर्थिक शोषण एवं दोहन के प्रति जागरूक एवं चौकन्ना करने का कार्य किया।

स्वाधीनता कालीन हिन्दी पत्रकारिता में महात्मा गांधी एवं डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। जहां गांधी जी ने 'इण्डियन ओपिनियन' (1903) से अपनी पत्रकारिता प्रारम्भ करके 'नवजीवन' (1921), 'यंग इण्डिया' (1919) एवं 'हरिजन' (1933) आदि पत्रों के द्वारा राजनीतिक एवं सामाजिक जागरूकता के लिए जनाधार एवं जनान्दोलन को नया स्वरूप प्रदान किया वहीं डॉ0 अम्बेडकर ने 'मूकनायक' (1920) से अपनी पत्रकारिता आरम्भ करके 'समता' (1928), 'जनता' (1930), 'बहिष्कृत भारत' (1927–1929) तथा 'प्रबुद्ध भारत' (1956) आदि अनेक पत्र–पत्रिकाओं का सम्पादन किया। हिन्दी में प्रकाशित 'बिहार बन्धु' (1872) अखबार स्वाधीनता कालीन सर्वाधिक दीर्घजीवी पत्र था। स्वाधीनता कालीन अन्य प्रमुख पत्रों में 'कैदी' (1930) व 'तूफान' (1942) रामवृक्ष बेनीपुरी, 'मतवाला' (1923) व रंगीला' (4 जून 1932) सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, 'प्रतीक' (1947) सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, 'हिन्दू पंच सेनापति' (1926 ई0) पं0 ईश्वरी दत्त शर्मा एवं रामगोविन्द द्विवेदी, 'विशाल भारत' बनारसी दास चतुर्वेदी (1929 ई0), 'माया' (1930 ई0) क्षितिन्द्र मोहन मित्र, 'जागरण' (1932) आचार्य शिवपूजन सहाय, 'वीर अर्जुन' (1934 ई0) इन्द्र विद्यावाचस्पति, 'विश्वभारती' (1942 ई0) पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख थे।

इस तरह हिन्दी पत्रकारिता की विकास यात्रा स्वाधीनतापूर्व बहुत संघर्षों के दौर से गुजरी। तत्कालीन हिन्दी पत्रकारिता बंगाल से शुरू होकर सम्पूर्ण भारत में विस्तृत हुई और इसने देश में नवजागरण लाने में अपनी महती भूमिका निभाई। भारत के निर्भीक एवं निष्पक्ष रचनाधर्मी पत्रकारों ने इस विधा को न केवल जनमानस को आन्दोलित करने में प्रयोग किया अपितु राष्ट्र की हर तरह की जरूरतों को जन सामान्य की पहुँच में लाने तथा उन्हें जागरूक बनाने का भरसक प्रयास किया। देश की स्वाधीनता से जुड़े राजनेताओं ने भी हिन्दी पत्रकारिता को अपने आन्दोलन का आधार बनाया और इसे घर–घर तक पहुँचाकर लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जगाने का प्रयास किया। स्वाधीनतापूर्व हिन्दी पत्रकारिता ने जन जागरण में अत्यन्त प्रभावी भूमिका निभाई।

सन्दर्भ–सूची :–

1. डॉ0 दीनानाथ साहनी (2015) : भारत में हिन्दी पत्रकारिता, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।
2. राजाराम मोहन राय (1829) : वंगदूत प्रथम अंक, 10 मई 1829।
3. पं. जुगुल किशोर शुक्ल (1827) : उदंत मार्तण्ड, सम्पादकीय, 4 सितम्बर।
4. अजीमुल्ला खान (1857) : पयामे आजादी, प्रथम अंक, दिल्ली।
5. शिवप्रसाद सितारे हिन्द (1847) : बनारस अखबार मुख पत्र, बनारस।
6. पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र : उचित वक्ता, 31 जनवरी 1885।
7. रामकृष्ण वर्मा (1884) : भारत जीवन, 3 मार्च, काशी।
8. डॉ0 दीनानाथ साहनी (2015) : भारत में हिन्दी पत्रकारिता, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

भक्ति-साहित्य और सामाजिक-समरसता

उमेश कुमार*

भक्ति आन्दोलन की अवधि 14 वीं सदी के मध्य से 17 वीं सदी के मध्य तक है। इस अवधि के दौरान भक्ति साहित्य सामाजिक सरोकारों से इतना गहरे जुड़ता है कि किंचित एक सांस्कृतिक सामाजिक आन्दोलन के रूप में इसकी पहचान तो की ही जाती है साथ ही इसे लोक जागरण सम्पन्न करने वाले एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक आन्दोलन के रूप में भी देखा जाता है।

भक्ति आन्दोलन के उद्भव के संबंध में पहली महत्वपूर्ण टिप्पणी जार्ज ग्रियर्सन के साहित्य–इतिहास की पुस्तक **'द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान'** में दिखायी पड़ती है– ''समस्त धार्मिक मत मतान्तरों के अन्धकार पर बिजली सी कौंध दिखाई पड़ती है। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई, किन्तु इतना तो निश्चित है कि समस्त भारतवर्ष ने इतना विराट आन्दोलन शायद ही कभी देखा हो, ... ''भक्ति आन्दोलन इसाइयत की देन है।''

ग्रियर्सन के अभिमत की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि वह भक्ति आन्दोलन के प्रभा मंडल से पूरी तरह परिचित था। उसे यह पूरी तरह मालूम था कि भारतीय जनता पर भक्ति आन्दोलन का बेधक प्रभाव पड़ा है। किन्तु कोई भी आन्दोलन अचानक ही नहीं होता है, उसकी एक सामाजिक प्रकृति होती है, जो कि दीर्घकालीन प्रक्रिया की परिणति होती है, इसलिए ग्रियर्सन का यह कहना कि भक्ति आन्दोलन अचानक ही अस्तित्व में आ गया तथा कोई भी हिन्दू यह नहीं जानता कि यह कहाँ से आया अपने आप में भ्रामक धारणा है। किन्तु यह भी देखने वाली बात है कि... ग्रियर्सन को भक्ति आन्दोलन ईसाइयत की देन क्यों प्रतीत होती है ?

- ईसाइयत में द्वैत भावना विद्यमान है जो कि प्रायः समूचे भक्ति साहित्य का मेरूदण्ड है।
- ईसाइयत में भक्त और भगवान के बीच मूल भाव प्रार्थना है जो कि भक्ति आन्दोलन की प्रकृति निर्धारित करती है।
- ईसाइयत में विद्यमान नैतिक भावना भक्ति आन्दोलन में आध्यात्मिक सामाजिक विमर्श के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

जाहिर है कि उक्त समानताओं के आधार पर ही ग्रियर्सन को यह निष्कर्ष निकालना आसान हुआ होगा कि भक्ति आन्दोलन ईसाइयत की देन है। भक्ति आन्दोलन के विदेशी होने के संबंध में दूसरी महत्वपूर्ण धारणा यह दिखाई पड़ती है कि इसके मूल में इस्लाम का एकेश्वरवाद तथा सूफियों के प्रेम की पीर को महत्वपूर्ण कारक बताया गया है। इस प्रकार इस्लाम को भक्ति आन्दोलन की पृष्ठिभूमि में देखा गया है। कालान्तर में आलोचकों ने ग्रियर्सन समेत उन समस्त विद्वानों की धारणाओं को खारिज कर दिया जिन्होंने भक्ति आन्दोलन की जड़े विदेशी दर्शन में लक्षित किया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रियर्सन की खरी आलोचना करते हुए कहा कि भक्ति आन्दोलन के उद्भव में वे मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं जो तत्कालीन ऐतिहासिक परिवेश में दिखाई पड़ रही थीं। उनके अनुसार पराभूत हिन्दू जनता के पास सिवाय इसके कोई चारा नहीं था कि वह भगवान की शरण में जाकर उसकी प्रार्थना करें।.... भक्ति आन्दोलन भारत में इस्लाम के आगमन की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उक्त अभिमत की सख्त खिलाफत करते हुए कहा कि यह तथ्य कितना हास्यास्पद है कि कुछ लोग भक्ति आन्दोलन को इस्लाम के खिलाफ प्रतिक्रिया का परिणाम मानते हैं। मैं यह बात जोर देकर कहूँगा कि यदि इस्लाम न भी आया होता तो भी भक्ति आंदोलन का बारह आने वैसा ही रहता जैसा है। क्योंकि यदि इस्लाम के आने से ही भक्ति आन्दोलन को हवा मिलती थी तो भक्ति

***सहायक आचार्य–हिंदी, राजकीय महिला महाविद्यालय, चौमू (जयपुर)**

आन्दोलन का सर्वाधिक उभार सबसे पहले सीमांत प्रान्तों में दिखाई पड़ता जहाँ इस्लाम का आगमन सबसे पहले हुआ था। किन्तु तथ्य इसके विपरीत है। दूसरी ओर 7 वीं सदीं में ही दक्षिण में जहाँ इस्लाम का नामोंनिशान नहीं था आलवारों और नयनारों के यहाँ भक्ति आन्दोलन की शिखर अभिव्यक्ति हो चुकी थी। निष्कर्ष यह है कि भक्ति आन्दोलन भारतीय चिन्तन धारा के स्वाभाविक विकास का परिणाम है।

स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान के पीछे हजारों वर्षों की सांस्कृतिक विरासत अपनी समृद्ध चिन्तन धारा को भक्ति आन्दोलन में बड़े ही स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्ति देती है, जिसे स्वतः स्फूर्त कहा जा सकता है। यदि इसके देशी स्त्रोतों की तलाश की जाय तो निम्नलिखित श्रृंखलाओं में ये स्रोत दृष्टिगोचर होते हैं –

- वैदिक ग्रन्थ
- औपनिषदिक ग्रन्थ– वृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर, ईश्वोवास्यपनिषद्
- पुराण ग्रन्थ – श्रीमद्भागवत पुराण, हरिवंश पुराण, पद्मपुराण, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण आदि।
- योग ग्रन्थ – गोरखनाथ की योगसंहिता आदि।

उक्त स्रोत ग्रन्थों के आलोक में हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि वैदिक तथा औपनिषदिक ग्रन्थ इस्लाम के आगमन के पूर्व ही तथा ईसाई धर्म के उद्भव के पूर्व ही अस्तित्व में आ चुके थे। यह तो इतिहास सम्मत तथ्य है, इसलिए इस विषय में कोई संशय नहीं होगा कि वैदिक मत से जो प्रार्थना तत्व भक्ति साहित्य में लिया गया और देवताओं की धारणा का विकास उसी परम्परा में हुआ तथा उपनिषदों से एक ब्रज की धारणा ली गई, उसमें किसी भी विदेशी दर्शन का हाथ भी हो सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य में हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे स्वाभाविक चिन्ताधारा का विकास मानते हैं। भक्ति आन्दोलन में निर्गुण भक्ति धारा पर प्रत्यक्ष रूप से औपनिषदिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है यथा– **एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति... एकोऽहम् बहुस्माय्** तथा सगुण भक्तिधारा पर पौराणिक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण भक्ति धारा और रामभक्ति धारा, भगवान विष्णु के अवतार से संबंधित पुराणों में भी विशेष रूप से श्रीमद्भागवतपुराण की आधारभूत संकल्पनाओं से प्रभावित है। दार्शनिक दृष्टि से उनमें रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य के द्वैतवाद, वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद का प्रभाव है। इतने स्पष्ट प्रमाण होने पर भी भक्ति आन्दोलन को विदेशी प्रकृति का कैसे कहा जा सकता है ?

मार्क्सवादी विचारकों द्वारा भक्ति आन्दोलन के उद्भव में जिन राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक शक्तियों को आधार माना गया, वे भारतीय समाज से ही निष्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिये दलित और शोषित जातियों के बीच आत्मविश्वास भरने का कार्य सदियों पीछे की परम्परा से चला आ रहा है, वह इस कालखंड में राजनीतिक केन्द्र से ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अपदस्थ होते ही केन्द्रीय भूमिका ले लेता है, और चूँकि धर्म के मुद्दे पर ही जातीय हीनता का अहसास प्राथमिक था इसलिए निस्संदेह पहली सामाजिक क्रान्ति भक्ति आन्दोलन के माध्यम से इसी क्षेत्र में सम्भव हुई जो कि दार्शनिक व सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से भक्ति आन्दोलन अपनी प्रकृति और फलागम में स्वदेशी है। यद्यपि यह तथ्य उल्लेखनीय है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अभिमत को पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता किन्तु भक्ति आन्दोलन किसी विदेशी दर्शन अथवा सामाजिक शास्त्र का परिणाम तो नहीं किन्तु इसकी स्वेदशी चिन्ता धारा का विदेशी चिन्ताधारा से अन्तर्सम्बंध रहा है, उदाहरण के लिये हिन्दू धर्म की व्यक्तिगत उपासना पद्धति, इस्लाम के प्रभाव से सामूहिक हुई जोकि आन्दोलनात्मक रूख अख्तियार कर लेती है। सूफियों की प्रेम की पीर का प्रभाव किसी हद तक माना जा सकता है किन्तु यदि प्रभाव की बात ही करनी हो तो यह निश्चित रूप से प्रतिक्रियात्मक स्तर पर अधिक तथा सकारात्मक स्तर पर कम दृष्टिगोचर होता है।

भक्ति का विकास–क्रम :– पूर्व मध्यकाल में जिस भक्तिधारा ने अपने आन्दोलनात्मक शक्ति सामर्थ्य से समूचे राष्ट्र की शिराओं में नया रक्त प्रवाहित किया, उसके उद्भव के संबंध में विभिन्न आचार्यों के अभिमतों में वैभिन्य है। ग्रियर्सन भक्ति के उद्भव के मूल में ईसाइयत की परम्परा देखते हैं, किन्तु कालान्तर के आचार्यों ने उनकी विचारधारा का खण्डन किया व भक्ति के उद्भव के संबंध में विशद अध्ययन प्रस्तुत करते हुए प्रमाणित किया कि इनकी जड़ें सदियों पीछे के भारतीय जमीन में चली गयी है। किंचित इस विषय पर सर्वप्रथम प्रामाणिक कार्य आ0 द्विवेदी द्वारा किया गया। उन्होंने भक्ति के विकास को व्याख्यायित विश्लेषित

करते हुए उसके संबंध में जो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला, वह कालान्तर के सभी विद्वानों डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. विश्वनाथ मिश्र, डॉ. राम विलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह आदि को मान्य हुआ। द्विवेदी जी का कहना है कि भक्ति काव्य में लोक जीवन का स्वाभाविक उच्छ्वास मिलता है। जो कि भक्ति लोक चिन्ता की स्वाभाविक विकास धारा का परिणाम है।

यह सच है कि यदि हम परम्परा की उपेक्षा कर दें तो हमारे वर्ममान का इतिहास अधर में लटका हुआ प्रतीत होगा। इसीलिए जब भक्ति के विकास क्रम को लक्षित करते हुए आचार्य शुक्ल सिद्धों–नाथों के साहित्य को यह कहकर उपेक्षित कर देते हैं कि यह साम्प्रदायिक साहित्य है, तो आचार्य द्विवेदी इसका कड़ा प्रतिवाद करते हुए कहते हैं – ''यदि हम सिद्धों एवं नाथों के साहित्य को छोड़ दें तो भक्ति काल का समूचा साहित्य जड़ से कटे हुए तने के समान अलग थलग पड़ जायेगा।'' इसीलिए ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार भक्ति काव्य की पूर्वापर स्थिति को गंभीरता के साथ जानना परखना आवश्यक हो गया। विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम भक्ति का बीज वैदिक काल के कर्मकाण्डीय यज्ञों में मिलता है। वैदिक ऋचाओं का पाठ भक्ति पूर्वक ही किया जाता था। यद्यपि उस कालखण्ड में इसका कोई दार्शनिक आधार नहीं निर्मित हुआ था। पुनश्च उपनिषद् काल में सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस शब्द का प्रयोग मिलता है, लेकिन उस कालखण्ड में भी भक्ति की व्यावहारिक व्याख्या नहीं प्राप्त होती है। भक्ति का विशेष रूप से विकास पुराण काल में हुआ। संस्कृत ग्रन्थ रामायण, भागवत भक्ति के ग्रन्थ बने। उपनिषदों के तर्ज पर भक्ति सूत्रों की रचना हुई, जिनमें नारद भक्ति सूत्र और शाण्डिल्य सूत्र प्रसिद्ध हैं। भक्ति का चरम आदर्श श्रीमद्भागवत् में ही निर्मित हुआ। नारद भक्ति में ही भागवत वर्णित भक्ति को ही आधार बनाया गया। यथा– **ब्रजगोपिकानाम्** (भक्ति वैसी ही होनी चाहिए जैसी ब्रज के गोपियों की थी) **सा परम प्रेमरूपा यल्लब्ध्वा पुमान अमृतो भवति।**

बुद्ध के अवतरण के समय पौराणिक भक्ति–भगवान विष्णु की भक्ति प्रचलित थी। किन्तु उस समय भी याज्ञिक कर्मकांडों की भूमिका वही थी। बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्तन के द्वारा अनूठी दार्शनिक क्रान्ति प्रस्तुत की जिसमें समाज की रूढ़िगत व्यवस्था के समक्ष बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया। बुद्ध की दार्शनिक क्रान्ति का असर समूचे समाज की जीवन पद्धति पर इस प्रकार पड़ा कि भारतीय जनता कर्मकाण्डों से चिन्तन की तरफ अग्रसर होने लगी। कालान्तर में जब बौद्ध धर्म महायान और हीनयान में बंट गया और वज्रयान के अंतर्गत सहज साधना चल पड़ी शाक्तों की तरह तंत्र, अभिचार और व्यभिचार चलने लगे तो नाथ मुनियों का प्रभाव बढ़ा। वे नाथमुनि हठयोग का सिद्धान्त लेकर आये। यद्यपि बौद्ध धर्म के चौरासी सिद्धों ने बुद्ध प्रवर्तित नूतन सामाजिक सोच को एक विशिष्ट तेवर ही प्रदान किया, सामाजिक परिवर्तन की भूमिका में कुछ न कुछ जोड़ा ही, लेकिन इसके बावजूद किंचित सिद्ध अपने अमर्यादित आचरण के कारण जनता को प्रकृत धर्म के धरातल पर नहीं ला सके। योगी गोरखनाथ निवृत्तिनाथ आदि, बौद्धों की विकृत सहज साधना का परिहास कर इन्द्रियों पर कठोर संयम का उपदेश देते हैं। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग, षटचक्र और कुण्डलिनी का विधान कालान्तर के सन्त मत पर अपना पूरा–पूरा प्रभाव डालता है। यद्यपि नाथों की योग साधना बौद्धों एवं शाक्तों की विकृत साधना को पाठ पढ़ाने के लिए अस्तित्व में आती है, किन्तु आगे चलकर केवल बाह्योन्मुखी रहने के कारण ही वह समाज के अंतरंग जीवन पर कोई सकारात्मक छाप नहीं छोड़ सकी। नाथ योगियों की हठ योग साधना महज कायिक साधना बनकर रह गयी। इसीलिए कालान्तर में कबीर अवधू को फटकार कर सच्चे योग का मर्म समझाते हैं।

दक्षिण भारत, दार्शनिक अचार्यों की परम्परा की दृष्टि से बड़ा समृद्ध रहा और कालान्तर में भक्ति जो आन्दोलन का स्वरूप पा सकी, उसमें निश्चित ही इन दार्शनिक आचार्यों का योगदान रहा। आठवीं शती के आस पास आदि शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सामाजिक विश्रृंखलता को दूर करना चाहा। अद्वैतवाद ने दार्शनिक धरातल पर भेद को तो खण्डित ही किया, बौद्धों के अनीश्वरवाद को भी खंडित किया, साथ ही साथ सामाजिक धरातल पर राष्ट्रीय एकता के निमित्त सार्थक उपक्रम प्रस्तुत किया। यद्यपि अद्वैतवाद भक्ति को अविद्या माया के अंतर्गत रखता है। लेकिन संत मत की क्रान्तिकारी दार्शनिक भूमिका में सहज ही दृष्टिगोचर होता है कि सन्तों को निर्गुण भक्ति के लिए अद्वैतवाद बहुत ही मददगार सिद्ध हुआ।

ग्यारहवीं सदी में रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत नामक दार्शनिक सिद्धान्त दिया, कालान्तर में मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत एवं वल्लभाचार्य का शुद्धादैतवाद भक्ति को ऐसी सुदृढ़ दार्शनिक भूमि देते हैं, जिसने कि दार्शनिक अस्मिता में भी भक्ति अक्षुण्ण सत्ता प्राप्त कर ली। दार्शनिक दृष्किोण से ग्यारहवीं सदी भक्ति के लिए संस्कृति और क्रान्ति का काल है। क्योंकि प्रथम बार इतने विषद धरातल पर गहन एवं गम्भीर दार्शनिक विवेचना के साथ कोई आचार्य ज्ञान के समक्ष भक्ति का मत लेकर खड़ा हुआ। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य सारे आचार्यों ने अद्वैतवाद का खण्डन करके भक्ति की सर्वोपरि सत्ता को प्रतिष्ठित किया। रामानुजाचार्य की ही परम्परा में रामानन्द हुए और रामानन्द की परम्परा में कबीरदास हुए। रामानुजाचार्य के समय तक समाज की रूढ़िगत व्यवस्था में काफी शिथिलता आ गई थी। स्वयं रामानुजाचार्य जी ने शूद्रों को भी दीक्षित किया। रामानुजाचार्य के द्वारा बरती गयी उदारता धार्मिक दृष्टि से सामाजिक परम्पराओं की ओर बढ़ती गयी। यह समाज की नियामक शक्तियों, बदलते हुए राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवेश तथा परिवर्तित होती हुई आर्थिक शक्तियों के कारण सम्भव हो पाता है। अस्तु आचार्य द्विवेदी भक्ति के विकास क्रम को लक्षित करते हुए यह कहते है कि धीरे–धीरे विशिष्ट वर्ग का झुकाव लोक की तरफ होता गया। चूंकि लोक के पास सत्य और न्याय का बल था तथा अदभुत जिजीविषा थी। इसीलिए रूढ़िवादी, सामंती शक्तियों से टक्कर लेते हुए खुद ब खुद अपना मार्ग प्रशस्त करती चलती है। 14 वीं सदी के मध्य से दृष्टिगत होने वाला भक्ति आंदोलन इन्ही ऐतिहासिक शक्तियों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया का परिणाम है।

रामानुजाचार्य और रामानन्द की परम्परा के समानान्तर कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात के संतों की एक और परम्परा है, जो भक्ति के आन्दोलनात्मक विकास को निर्दिष्ट करती है, जिसमें महत् भूमिका संतों की है। ज्ञानेश्वर और नामदेव महाराष्ट्र में भक्ति के सहज, स्वच्छ एवं मानवीय स्वरूप की प्रतिष्ठा लगभग आन्दोलनात्मक स्तर पर कर चुके थे। नामदेव उत्तर भारत भी आते हैं और यहां भी अपनी छाप छोड़ जाते हैं। कबीर के बहुत सारे वचन नामदेव के वचनों में मिलते हैं। उपरोक्त विवेचित सुदीर्घ परम्परा अपनी संचित ऊर्जा के साथ 14 वीं सदी के मध्य में विस्फोट करती है, जिसे भक्ति आंदोलन के रूप में जाना जाता है। जैसा कि द्विवेदी जी भक्ति के उदय की व्याख्या में यह इंगित करते हैं कि भक्ति को आन्दोलनात्मक स्वरूप देने में इस्लामिक परिवेश का महज चार आना योगदान है, यह सत्य ही प्रतीत होता है। इस कालखण्ड में वे राष्ट्र में सामंती व्यवस्था को ही प्रश्रय दे रहे थे। वैचारिक स्तर पर हिन्दू जनमानस इस्लाम के समक्ष कठिन चुनौती महसूस कर रहा था। कुल मिलाकर जटिल परिस्थिति समाज को हर ढ़ंग से विषाक्त बना रही है, जिसके संबंध में गो. तुलसीदास की ये पंक्तियां अत्यन्त प्रामाणिक लगती हैं–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली
बनिक को न बनिज, न चाकर को चाकरी

ऐसी स्थिति में भक्ति काव्य का अद्वितीय सामाजिक और रचनात्मक स्वरूप उजागर होता है। इस काल में भक्त कवि यदि चाहते तो अच्छे राजाश्रय में रह सकते थे लेकिन यह सुखद आश्चर्य है कि समूचे कवियों पर कुम्भनदास की एक पंक्ति सूत्र के रूप में लागू दिखाई पड़ती है– **सन्तन को कहा सीकरी सों काम.....** यह इन सारे कवियों की ईमानदार रचनाशीलता ही थी कि वे राज्याश्रय को ठुकरा कर निष्काम भाव से अपनी रचना का आलम्बन लोक के बीच में गहरा रिश्ता कायम कर सके हैं। राम और कृष्ण भक्ति धारा के कवियों की रचनाशीलता की संपरीक्षा करते हुए आचार्य ने इन्हें सेक्युलर एप्रोच का कवि कहा है। रूसी विद्वान वरान्निकोव मानस पढ़ते हुए यह कहता है ''उस समय की जटिल सामन्ती परिस्थितियों को देखते हुए तुलसीदास जैसी सेक्युलर, लोकधर्मी और ईमानदार रचनाशीलता का प्रमाण देना बड़ा कठिन काम है।

समय के जिस बिन्दु पर भक्ति को हम एक विराट आन्दोलन के रूप में फूटते हुए पाते हैं, वह निरन्तर गतिशील है और किंचित यह गतिशीलता ही समाज की जड़ता को तोड़ने में सहायक होती है, इसीलिए हम इस कालखण्ड के साहित्य को क्रान्तिकारी भूमिका में देख पाते हैं और लोक जागरणकारी कह पाते हैं। सवाल यह उठता है कि गम्भीर एवं प्रगल्भ दार्शनिक भाव भूमि पर स्थित भक्ति जो मूलतया जीव

और ईश्वर के रिश्तों–नातों की भावात्मक व्याख्या करती रहती है, सामाजिक भूमिका में अपनी पहचान कैसे बना पाती है ? वस्तुतः मध्यकाल के सभी संतों (निर्गुण–सगुण) की मूल चिन्ता आध्यात्मिक होते हुए भी उनकी जमीन भारतीय समाज में ही रही है। सामाजिक चिन्ता आध्यात्मिक चिन्ता से संग्रथित है। उनका ईश्वर आकाश में नहीं रमता था, इसीलिए वे खोहों में नहीं रहे, वे जंगलों में नहीं रमे, बल्कि समाज की कर्मशील गतिशीलता के ही बीच सहज समाधि जैसी स्थितियां निर्दिष्ट करते हैं। भक्ति की निर्गुण परम्परा सीधे सिद्धों और नाथों की परम्परा से जुड़ती है, किन्तु अपनी मौलिकता का तेज लिये हुए। सिद्धों और नाथों के यहां कर्मकाण्डों का खण्डन, रूढ़ व्यवस्था का खण्डन और योग पद्धति अवश्य है पर निर्गुण भक्ति जैसी चीज नहीं।

कबीर, रैदास, दादू, भीखा, पल्टू, रज्जब साहब आदि अनेक संत प्रायः निम्न वर्ग से आए दलित शोषित जनता के मन में आत्म विश्वास का नया सोता उद्घाटित किए, लेकिन इनका लक्ष्य दलित क्रान्ति जैसा नहीं है, बल्कि ये समूची मानवता के लिए समर्पित, मानवता के सच्चे उपासक थे। जब भक्ति आंदोलन निर्गुण से सगुण का बाना धारण करती है तो इस ऐतिहासिक सच से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि निर्गुण भक्ति धारा के चलते जिस रूढ़ सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त करने का कार्य किया जा रहा था, वह शुभ कार्य अपूर्ण रह गया। भक्ति काव्य का समाजशास्त्र विनिर्मित करने वाले आचार्यों का यह निश्चित मत है कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने एक विशेष षड्यन्त्र के तहत निर्गुण भक्ति के मानवता–धर्मी चिन्तन को ठेस पहुंचाया और सगुण परम्परा में अभिजात्यवाद की प्रतिष्ठा हुई तथा निर्गुण में विकसित वैज्ञानिक विवेक कर्मकाण्डों के चलते आहत हुआ।

लेकिन सगुण काव्य का यह निषेधात्मक पक्ष नहीं है, सांस्कृतिक स्तर पर सगुण काव्य, निर्गुण से आगे बढ़कर लोक से और गहन रिश्ता कायम करता है। मानवीय चिन्तायें किचिंत सगुण काव्य में कम नहीं हैं। भक्ति काव्य का पूर्ण मूल्यांकन करते समय निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा के अर्न्तसंबंधों का ध्यान रखना जरूरी है। समग्र मूल्यांकन करते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति आन्दोलनात्मक स्वरूप में दोनों भक्ति धाराओं का योगदान है, उसका स्वरूप भले ही भिन्न हो।

भक्ति काव्य सामाजिक–सांस्कृतिक समरसता :– हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति काव्य (14वीं – 17वीं सदी के मध्य तक) को आचार्यों ने ऐतिहासिक घटना के रूप में लक्षित किया है। यह कालखण्ड सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक विश्रृंखलताओं का शिकार था। स्वयं हिन्दू धर्म नाना मत मतान्तरों के वैषम्य के कारण सांस्कृतिक फलक में फाँक डाले हुए था, जिससे आम जनता दिग्भ्रमित थी। राजनीतिक स्तर पर जैसा कि कुछ इतिहासकारों का मानना है कि राष्ट्र में सुख समृद्धि थी, गलत है। ऐतिहासिक प्रमाण इसके विपरीत हैं। तुलसी की वे पंक्तियां समूचे काल खण्ड की परिचायिका हैं– **खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली–** ऐसे कठिन समय में जो कि समूचा भक्ति काव्य राष्ट्र की जिस स्थिति की तरफ संकेत करता है वह रचनात्मक दृष्टि से एक द्वन्द्वात्मक जमीन तैयार करता है, जहां भक्ति का मूल्यांकन अत्यन्त सहज हो जाता है। 14वीं सदी के मध्य तक समाज जहां तक पहुंच चुका था वहां ऐसी प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी। जिससे परम्परागत दर्शन–अध्यात्म भक्ति में गुणात्मक अंतर आता है। परिणामतः हम जिस भक्ति आंदोलन से मुखातिब होते हैं, उसके मूल में अनेक सामाजिक– सांस्कृतिक कारण विद्यमान हैं, जिनकी परीक्षा परम्परा के सही विश्लेषण के बिना सम्भव नहीं है। भक्ति आन्दोलन में सांस्कृतिक स्तर पर जैसा समन्वय या प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है, वह महज समय के किसी बिन्दु की उपज नहीं है, बल्कि उसके पीछे सदियों की विकासात्मक सामाजिक– सांस्कृतिक स्थितियाँ विद्यमान हैं। वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध आदि विविध मत मतान्तरों में एक अरसे से वैचारिक आदान प्रदान चल रहा था, किंचित यह भारतीय मनीषा के स्वभाव में ही विद्यमान है। उपनिषद–दर्शन वेदों में संशोधन करता है तो पौराणिक दर्शन उपनिषदों में यथेष्ट संशोधन करता है और भारतीय संस्कृति इन सभी को रचाते पचाते अग्रसर होती है। कबीर के समय तक भक्ति का पौराणिक स्वरूप और दार्शनिक स्वरूप काफी कुछ परिमार्जित–परिष्कृत हो चुका था, जो कि शंकराचार्य से लेकर रामानन्द तक के आचार्यों की परम्पराओं में वैचारिक आदान प्रदान के चलते विविध

सांस्कृतिक घटकों के बीच जो समन्वय और जो प्रतिक्रिया, दृष्टिगत होती है, वह कालान्तर के भक्ति आंदोलन की जमीन बनाती है।

कबीर जहाँ खड़े हैं वहां वर्ग, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदि किसी प्रकार के भेद के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। उसके उद्‌गार पूर्ववर्ती कालखण्ड की उस सांस्कृतिक प्रतिक्रिया के परिणाम है, जिसमें ब्राम्हणवादी रूढ़िवादिता के खिलाफ बौद्धों ने अपना झण्डा ऊँचा किया और सिद्धों के भ्रष्ट महासुखवाद के खिलाफ नाथों ने आवाज उठाई। लेकिन ऐसा नहीं है कि निर्गुण भक्तिधारा के मूल में महज यह सांस्कृतिक प्रतिक्रिया ही है, प्रत्युत आचार्य शंकर से लेकर रामानुजाचार्य से होकर रामानन्द तक की दार्शनिक धारा के चलते लोक में जो सांस्कृतिक मेलजोल का माहौल बना, वह भी एक कारण है। निर्गुणियों का लक्ष्य किसी प्रकार का सांस्कृतिक समरसता का माहौल तैयार करना नहीं था, यह कार्य तो उनके मूल कार्य के बहाने अपने आप सध जाता है। वे मानवीय सत्य और न्याय के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। उनका यह मानववाद भी सांस्कृतिक समरसता का माहौल तैयार करता है। निर्गुणधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर दास, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिद्ध, नाथ आदि सम्प्रदायों की समीक्षा करते हैं, किंचित इसी उपक्रम में मनोवैज्ञानिक धरातल पर ये सभी सम्प्रदाय एक दूसरें के निकट आ जाते हैं :–

माला फेरत जुग मुआ, भया न पंडित कोय....
साकत बाम्हन मति मिलै, वैष्णों मिलै चंडाल

दूसरी तरफ हिन्दू, मुसलमानों के बीच जो साम्प्रदायिक विद्वेष था, वह उसकी भी जमकर निंदा करते हैं कबीर के समक्ष दोनों नंगे हो जाते हैं, जो कि कबीर का लक्ष्य ही है समाज की सच्चाई को उसकी आंखों के सामने नंगा खड़ा कर देना –

हिन्दू अपनी करैं, बढ़ाई, गागर छुवन न देई
वेश्या के पाँवन तर सोवें, यह देखी हिन्दुआई। ....
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी – मुरगा खाई

समूची संत काव्य धारा जाति, वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय विहीन ऐसे समाज की कल्पना करती है, जिसमें सत्य और न्याय ही प्रधान है। मानव सह अस्तित्व के आधार पर जो सांस्कृतिक मेलजोल का माहौल तैयार होता है, उसमें सन्त काव्य की प्रगतिशील भूमिका ऐतिहासिक महत्व की है। जो कि सन्त काव्य के उद्‌भव के मूल में सांस्कृतिक मेलजोल और सांस्कृतिक प्रतिक्रिया तो है ही लेकिन परिणाम अपने कारण से कहीं बड़ा है।

सूफियों के तो विजन में ही सांस्कृतिक मेलजोल का तथ्य विद्यमान है। सूफी काव्य के उद्‌भव के मूल में सांस्कृतिक मेलजोल की धारणा है। ऐसे साम्प्रदायिक विद्वेष के समय सूफी काव्य में सेक्युलर दृष्टि का चरम स्वरूप देखने को मिलता है। इन सूफियों में भी जायसी का योगदान तो ऐतिहासिक है। इनके यहां सांस्कृतिक मेलजोल संबंधी निम्नलिखित तथ्य मौजूद हैं:–

1. सभी सूफी कवि रचना करने की दृष्टि से रचना करते हैं और वे अपनी रचना माध्यम से हिन्दू जनता के ह्रदय में गहरी पैठ बनाना चाहते हैं।
2. इनका आधारभूत दर्शन सूफी इनके कृतित्व में नेपथ्य में चला गया है और भारतवर्ष की रीति, नीति, परम्परा, वेशभूषा, दार्शनिक मान्यता लोक कथा आदि ही मूल कथ्य बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका मानवीय प्रेम महज लोक कथाओं के ही परिप्रेक्ष्य में नही बल्कि यहाँ की जमीन के व्यापक फलक पर साकार है। सूफियों का आधारभूत सिद्धांत ही था मानवीय प्रेम– **मानुष प्रेम भयो बैकुण्ठी।**

ध्यातव्य है सूफियों के यहां सांस्कृतिक मेलजोल कारण भी है और उनका कृतित्व सांस्कृतिक मेल जोल पैदा भी करता है। चूंकि वे हिन्दू घरों की प्रेम कथाओं को अपना माकूल कथ्य मानते हैं इसलिए शेष मुसलमान वर्ग का मनोवैज्ञानिक रूप से हिन्दूओं के ज्यादा से ज्यादा निकट आना स्वाभाविक है। कुछ विद्वानों का मत है कि सगुण काव्य धारा, निर्गुण को दबाकर उभरती है और ऐसा सांस्कृतिक धरातल पर

होता है। इसमें सत्य का अंश हो सकता है, लेकिन यह सर्वांग़ सच नहीं है। सगुण कवियों के रचना मन में कहीं गहरे, सांस्कृतिक प्रतिक्रिया अवश्य मौजूद है, जिसमें निर्गुण के खिलाफ भी प्रतिक्रिया है और साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिक्रिया अवश्य मौजूद है, लेकिन प्रतिक्रिया गौण है, सांस्कृतिक समरसता प्रधान है, क्योंकि सूर और तुलसी दोनों का मुख्य कथ्य मानवीय प्रेम ही है। भले ही उनकी रचना अपने समय के तकाजों से टकराती है, लेकिन उनके उद्देश्य में सांस्कृतिक समन्वय ही प्रधान है। जब सूर कृष्ण के ऐसे प्रेमिक व्यक्तित्व का चित्रण करते हैं, जिनके जादू में कालान्तर में रसखान और रहीम जैसे कवि बंध जाते हैं, जिसका प्रेम व्यक्ति–हृदय का प्रसार लोक–हृदय तक कर देता है और जब तुलसी द्वन्द्वात्मक स्तर पर मानव जाति के समक्ष उपस्थिति विध चुनौतियों से संघर्ष करते हुए उसे रामराज्य की परिकल्पना तक पहुंचाते हैं तो इससे सांस्कृतिक समरसता का मार्ग तो प्रशस्त ही होता है, इसके मूल में भी सांस्कृतिक समरसता को कारण मानना युक्ति संगत होगा क्योंकि प्रायः कारण का स्वभाव परिणाम में फलीभूत होता है।

निष्कर्षतः भक्ति काव्य के मूल में सांस्कृतिक समरसता एक प्रधान कारण के रूप में अवश्य विद्यमान है, जिसकी व्याख्या भक्ति काव्य के कथ्य के आधार पर ही सम्भव है। किन्तु रचना प्रक्रिया की दृष्टि से देखा जाए तो सांस्कृतिक प्रतिक्रिया कम महत्वपूर्ण तथ्य नहीं हैं। जिस सांस्कृतिक समरसता/प्रतिक्रिया से भक्ति आंदोलनात्मक तेवर पाती है, वह कालान्तर में और अधिक प्रशस्त रूप में फलीभूत होता है जो कि भक्ति काव्य अपनी पृष्ठभूमि में उपस्थित सांस्कृतिक समरसता की अपेक्षाकृत कहीं अधिक व्यापक और संगत सांस्कृतिक समरसता का माहौल तैयार करता है।

सहायक–ग्रंथ–सूची :–

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास 2015, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. रजनी पाम दत्त, (अनुवादकः रामविलास शर्मा), आज का भारत, 2000, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लि., दिल्ली।
3. एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में जाति, 2001, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि., नई दिल्ली।
4. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, (अनुवादकः गुणाकर मुले), प्राचीन भारत की संस्कृति और सम्यता, 1999, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली।
5. सुनील खिलनानी, (अनुवादकः अभय कुमार दुबे), भारतनामा, 2002, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली।
6. आर्नल्ड हाउजर, (अनुवादकः गोपाल प्रधान), कला का इतिहास दर्शन, 2001, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा.लि., दिल्ली।
7. अंतोनियो ग्राम्शी, (अनुवादकः कृष्णकांत मिश्र), सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनिवादी सरोकार, 2002, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लि., दिल्ली।
8. सुमित सरकार (अनुवादकः सुशीला डोभाल), आधुनिक भारत, 1999, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।
9. के.एम. अशरफ (अनुवादकः डॉ. के.एस. लाल), हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, 1969, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली।
10. के.एल. शर्मा, भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, 2006, रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
11. आहूजा राम, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, 2003, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
12. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, सं. 2053 वि., हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
13. सिंह, डॉ. बच्चन, 2008, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली।
14. वर्मा, धीरेन्द्र (संपा. प्रधान), 1986, हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, भाग–2, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
15. सिंह, डॉ. बच्चन, 2016, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

ꕥ★ꕥ

समकालीन हिंदी कविता और कुँवर नारायण

डॉ. सुनील कुमार मिश्र*

कुँवर नारायण के रचनात्मक लेखन की शुरुआत बीसवीं शताब्दी के मध्य से होती है तथा इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक वह रचनारत रहे। इन छह दशकों की रचना यात्रा में उन्होंने कई चढ़ाव–उतराव और कई बदलाव देखें। कई काव्य–आंदोलनों के बीच से गुजरे, किसी–किसी से प्रेरित–प्रभावित हुए लेकिन अपनी लय नहीं छोड़ी। कुँवर नारायण ने हमेशा अपनी शर्तों पर कविता लिखी है। युग की क्या मांग है, क्या कुछ फैशन में है, इन सबसे वह बेपरवाह रहे। काव्य–आंदोलनों के प्रति उनकी दृष्टि काफी क्रिटीकल रही। वह कविता–मात्र को बचा लेना चाहते हैं। कविता को वर्गीकृत करके देखना या उसे किसी खास विचारधारा के साथ जोड़ कर देखने के वह पक्षधर नहीं हैं। उनके लिए:– ''कविता वक्तव्य नहीं गवाह है / कभी हमारे सामने / कभी हमसे पहले / कभी हमारे बाद... / उसे कोई हड़बड़ी नहीं / कि वह इश्तहारों की तरह चिपके / जुलूसों की तरह निकले / नारों की तरह लगे / और चुनावों की तरह जीते''[1]

एक साक्षात्कार में काव्य–आंदोलनों के बारे में वह कहते हैं, ''मैं लगभग आधी सदी से कविता लिख रहा हूँ। इस दरम्यान मैं आधे दर्जन से अधिक साहित्यिक आदोंलनों की शुरुआत और अन्त का साक्षी रहा हूँ। इन सबसे जो जीवित बचा रहा, वह उदात्त कविता है, न कि इसके आसपास मँडराता कोलाहल दर असल, किसी प्रवृत्ति को नाम देने के पीछे कवि से कहीं अधिक सक्रिय आलोचक होते हैं, और जो नाम किसी सच्चे कवि के लिए शायद ही कोई मायने रखता हो। हिंदी कविता में इसी तरह, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता आदि जैसे नाम अस्तित्व में आए, लेकिन अच्छी कविता सदैव इन नामकरणों से अपेक्षाकृत उदासीन ही रही। कई बार तो, कविता के विकास में इसकी भूमिका प्रतिगामी रही। किसी आन्दोलन ने जब किसी खास प्रकार की कविता या कवि को एक आदर्श नमूने के तौर पर तरजीह दी तो इससे नकल को प्रोत्साहन मिला, और मौलिकता अवरुद्ध एवं उपेक्षित हुई।''[2] कवि का रचना में विश्वास गहरा है, उसके लिए किसी भी बाहरी समर्थन की जरूरत नहीं है। रचना पर लेबिल लगा देने भर से वह मजबूत नहीं हो जाएगी, यह रचना पर निर्भर है कि वह अपनी प्रासंगिकता आगे सिद्ध करे। कोई भी महान कला स्वायत्तता की माँग करती है, वह किसी भी खांचे में अँट नहीं सकती। क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ एक परिसीमन का भी कार्य करती हैं और बड़ी रचना युग–काल की प्रवृत्ति विशेष की सीमा को हमेशा लांघ जाती है। महान कविता या कवि का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है, वह काव्य आंदोलनों के बीच रहकर भी दूर से पहचाना जा सकता है। कुँवर नारायण वैसे तो नई कविता से शुरुआत करते हैं, लेकिन उनका रचनात्मक लेखन समकालीन हिंदी कविता तक फैला रहा। यहाँ इस अध्याय में हम कवि की समकालीन हिंदी कविता में उपस्थिति और वैशिष्ट्य का विश्लेषण करेंगे। 'समकालीनता' एक अवधारणा है। 'समकाल' से 'समकालीन' शब्द बना है। 'समकाल' का अर्थ है 'अपने काल के बराबर' अर्थात् जो अपने समय के साथ हैं, वह समकालीन हैं। अब एक प्रश्न मन में उपस्थित होता है कि सभी रचनाकार अपने–अपने समय के साथ होते हैं, फिर आधुनिक हिंदी की परवर्ती कविता ही 'समकालीन कविता' क्यों? समकालीनता की अवधारणा बहुत व्यापक है, समकालीन हिंदी के कवि राजेश जोशी ने अपनी पुस्तक 'समकालीनता और साहित्य में' इस अवधारणा पर बहस की है। समकालीनता का आशय केवल अपने समय के बारे में नहीं हैं, एक ही समय के दो रचनाकार समकालीन नहीं हो सकते हैं जबकि मध्यकालीन भक्त या संत कवि हमारे समकालीन हो सकते हैं। समकालीन अवधि के साथ–साथ विचार का भी मामला है। जो विचार हमारे समय को समग्रता में समझता–समझाता है, वह समकालीन है, बाकी जो नहीं समझता वह हमारा समकालीन नहीं है।

आलोचक विजय कुमार ने, समकालीन हिंदी कविता के काल क्रम को निर्धारित करते हुए लिखा है, ''हिंदी में पिछले तीस–पैंतीस सालों में जो कविता लिखी जाती रही, खासकर इमर्जेंसी के बाद के सालों में और अस्सी के दशक के बाद से, उसे और किसी सुविधाजनक नाम के अभाव में समकालीन कविता कहा

***असिस्टेंट प्रोफेसर–हिंदी, सरकारी आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कॉलेज, लालपुर–जामनगर।**

गया है।''[3] विजय कुमार के इस कथन से स्पष्ट है कि समकालीन हिंदी कविता की शुरुआत 1975 के आस–पास से मानी जा सकती है। कवि–आलोचक अशोक वाजपेयी की कृति 'फिलहाल' सन् 1970 ई. में प्रकाशित होती हैं इस कृति में उन्होंने बार–बार समकालीन कविता और रचनाशीलता का उल्लेख किया है। इस पुस्तक में उन्होंने धूमिल, कमलेश, अज्ञेय, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा की कविताओं पर लिखते हुए इन्हें समकालीन हिंदी कविता की श्रेणी में डाला है। अर्थात् अशोक वाजपेयी ने नई कविता की परवर्ती काव्य–प्रवृत्तियों को समकालीन हिंदी कविता के दायरे में समाहित कर लिया। युवा कविता आंदोलन और अकविता आंदोलन को समकालीन हिंदी कविता का शुरुआती चरण माना। एक सुविधाजनक विभाजन यह है कि साठोत्तरी कविता के बाद का समय समकालीन हिंदी कविता का है। दरअसल नई कविता के आस–पास इतने सारे काव्य–आंदोलन अस्तित्व में आए कि एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गयी। नई कविता, युवा कविता, अकविता, साठोत्तरी कविता, इत्यादि आंदोलन बहुत ही कम समय में विकसित हुए। ये सभी आंदोलन समकालीन हिंदी कविता की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे। समकालीन हिंदी कविता का परिदृश्य बहुत ही व्यापक है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने किसी भी तरह की केन्द्रीयता की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया। साहित्य या कविता का कोई एक केन्द्र नहीं रह गया। छोटे–छोटे शहरों में यह विकसित हुई। विचारधारा के भी स्तर पर देखें तो इसमें सभी विचारधारा के कवि शामिल हैं। साथ ही नई कविता, अकविता, साठोत्तरी कविता के कवि भी समकालीन हिंदी कविता के कवि हैं, देखा जाए तो इसमें कवियों की तीन पीढ़ियाँ सक्रिय हैं। अति वरिष्ठ कवि, वरिष्ठ कवि और युवा कवि। अति वरिष्ठ कवियों में नागार्जुन, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, त्रिलोचन, कुँवर नारायण, केदार नाथ सिंह, विनोद कुमार शुक्ल, विष्णु खरे, अशोक वाजपेयी इत्यादि हैं। वरिष्ठ कवियों में लीलाधर जगूड़ी, राजेश जोशी, अरुण कमल, चंद्रकांत देवताले, वीरेन डंगवाल, उदय प्रकाश, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, आलोक धन्वा, आलोकधन्वा, ज्ञानेन्द्रपति, सविता सिंह, अनामिका, शुभा, निलेश रघुवंशी, देवी प्रसाद मिश्र, मंगलेश डबराल इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। युवा कवियों में गीत चतुर्वेदी, आशुतोष दुबे, उमाशंकर चौधरी, निशांत, अनुज लुगून, अच्युतानंद मिश्र इत्यादि प्रमुख हैं।

यह समय चुनौतियों से भरा हुआ है और मनुष्य के लिए संक्रमण का समय है। मनुष्य के कार्य–व्यापार के जितने भी पहलू हैं जैसे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक इत्यादि– सभी मूल्यों के संकट से जूझ रहे हैं या दूसरे शब्दों में कहें तो मूल्य च्युत हो रहे हैं। यह मूल्य संकट बोध समकालीन हिंदी कविता का केन्द्रीय विषय है। समकालीन हिंदी कविता इस मूल्य–संकट को बखूबी समझ रही है, उसको चित्रित कर रही है और उससे टकरा भी रही है। बाजारवाद, भूमंडलीकरण के साथ–साथ वे सभी गतिविधियाँ जो मनुष्य से उसकी मनुष्यता निकाल लेने के लिए तत्पर हैं– का प्रतिकार समकालीन हिंदी कविता के सभी प्रमुख कवि कर रहे हैं। कुँवर नारायण एक जगह लिखते हैं, ''काफ्का के लिए कहा जाता है कि वह जीवन भर 'मनुष्य' के बारे में लिखता रहा और वह मनुष्य काफ्का स्वयं था। काफ्का का 'स्वयं' अपने विस्तार में सारी मानवता को समेटता था... कविता भी सबसे पहले इसी तरह की एक कोशिश है सही और सच्चे शब्दों द्वारा आदमी और आदमी के बीच, या आदमियों के साथ, सही और सच्चे रिश्तों की तलाश।''[4] समकालीन हिंदी कविता भाषा के माध्यम से मनुष्यों के बीच सच्चे संबंधों की तलाश कर रही है। तेजी से विकसित होते महानगरों में कला के लिए, संवेदना के लिए, मनुष्यता के लिए, प्रेम के लिए कितनी कम जगह बची है इसके पर्याप्त उदाहरण समाकलीन हिंदी कविता में लक्षित किये जा सकते हैं। मंगलेश डबराल की 'दिल्ली : दो', वेणु गोपाल की 'कविता में मर गया कवि', राजेश जोशी की 'दृश्य और बिंब' इत्यादि कविताएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसा नहीं है कि यह मूल्य–संकट केवल शहराती जीवन में ही देखने को मिलता है बल्कि गाँव–देहात भी इससे अछूते नहीं हैं। अरूण कमल की एक कविता 'लोक कथा' जो उनके कविता–संग्रह 'अपनी केवल धार' में संकलित है, इस कविता में एक किसान के घर डाका पड़ जाता है, जिसमें किसान के बेटे की डकैतों द्वारा हत्या कर दी जाती है। सुबह जब लाश को कंधा देने का वक्त आया, तो किसान के घर में किसान उसका बूढ़ा पिता और छोटा बेटा तीन ही लोग हो रहे थे। एक व्यक्ति की कमी थी, लाश को कंधा देने के लिए। लेकिन गाँव से एक भी व्यक्ति नहीं आया, सभी यही सोच रहे थे कि 'डकैत बुरा मान जायेंगे'। कहने की जरूरत नहीं कि यही हमारे क्रूर और निर्मम होते जाते समय का सच है। विनोद कुमार शुक्ल भी अपने संग्रह 'अतिरिक्त नहीं' में इस सच को उजागर करते हैं। वह अपनी कविताओं में लोगों से अतिरिक्त होने का आग्रह करते हैं। यह अतिरिक्तता ही मनुष्यता है।

समकालीन हिंदी कविता लगातार क्षरित होते इन मूल्यों की पड़ताल कर रही है, प्रतिकार कर रही है और साथ ही इन क्षरित मूल्यों के बरक्स एक मूल्यवान समाज की आकांक्षा भी कर रही है। इस कविता में मूल्यों के क्षरण पर केवल रोना मात्र नहीं है वरन् एक ऐसे समाज की, एक अदद व्यक्ति की आकांक्षा भी है जो इन क्षरित मूल्यों के बरक्स एक प्रति–संसार रच रहा है जो कविता का संसार है, कला का संसार है, संवेदना, सहानुभूति का संसार है जहाँ जीवन की कोमल अनुभूतियाँ हैं।

प्रतिरोध की संस्कृति समकालीन हिंदी कविता का केन्द्रीय स्वर है। मनुष्य के जीवन पर आज के समय में चौतरफा हमले हो रहे हैं। कविता पीड़ित, उपेक्षित, दमित, वर्ग के साथ खड़ा होकर लड़ाई लड़ रही है। इस लड़ाई में वह जीत–हार की आकांक्षा से परे होकर शामिल हो रही है। कुँवर नारायण की कविता का 'सम्मेदीन' अकेले भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई लड़ता है। समकालीन हिंदी कविता 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं' बल्कि प्रतिरोध के रूप में संघर्ष कर रही है। समकालीन हिंदी कविता विविध वर्णी है, विचारधारात्मक स्तर पर भी इसमें बहुलता है। यह बहुलता–बोध इसका केन्द्रीय सरोकार है। 'ताकत की दुनिया' से यह टकराती है और संभावना की तलाश में 'नए इलाके में' में प्रवेश करती है। समकालीन हिंदी कविता उन चीजों को बचा लेना चाहती है जो इस विकास की दौड़ में धीरे–धीरे खत्म होती जा रही हैं। इस कविता में लोक और शहर दोनों के चित्र हैं। लोक–जीवन और शहराती जीवन को यह कविता, उसके विभिन्न आयामों में देखती समझती है। समकालीन हिंदी कविता की उपलब्धियों के बारे कुँवर नारायण कहते हैं, ''कई संन्दर्भों में सरोकार विकसित हुए हैं, ये सबसे बड़ी उपलब्धि है। दुनिया की सभी कविताओं को देखता हूँ और भारतीय कविता को सामने रखकर यह पाता हूँ कि जितने विविध इतिहास, समस्याओं और प्रभावों को इसने आत्मसात किया है वह सचमुच आश्चर्य की बात है। एक और बात जोडूँगा कि समकालीन कविता ने हमारा ध्यान जिस तरह से उपेक्षित वर्ग की तरफ मोड़ा है, यह बहुत बड़ी बात है।... साधारण से लेकर अतिसाधारण और असाधारण तक कविता की दृष्टि, मुझे वाकई अभिभूत करती है।''[5]

इस तरह हम देखते हैं कि समकालीन हिंदी कविता में साधारण जीवन की स्थापना होती है, और यह कविता उपेक्षित वर्ग के पक्ष में खड़ी है।

सन्दर्भ–सूची :–

1. कुँवर नारायण, कोई दूसरा नहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति 2011, पृ. 53।
2. कुँवर नारायण, तट पर हूँ पर तटस्थ नहीं, संपा. विनोद भारद्वाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2010, पृ. 91।
3. विजय कुमार, कविता के पते–ठिकाने, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 17।
4. कुँवर नारायण, आज और आज से पहले, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण 2015, पृ. 127।
5. कुँवर नारायण, तट पर हूँ पर तटस्थ नहीं, संपा. विनोद भारद्वाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2010, पृ. 25।

भाववाद बनाम वस्तुवाद : एक सौंदर्य शास्त्रीय विवेचन

योगेन्द्र कुमार मीना*

कोई भी कलाकृति शुद्ध भाववादी नहीं होती और कोई भी कलाकृति शुद्ध वस्तुवादी नहीं होती, जो समस्या भावादियों की है, वही वस्तुवादियों की भी है और दोनों के मध्य उस सत्य–चित्त और आनंद तत्व को पकड़ पाना सच में किसी विरले आलोचक का ही काम हो सकता है। जिसका उद्देश्य वाद पोषण न होकर शुद्ध सत्य की गवेषणा करना हो। सौंदर्य को केवल वस्तु में देखने वाली सभी पदार्थवादी विचार सरणियां मृत है, उनमें जीवन सत्य अनुपस्थित है। वे ज्यादा से ज्यादा एक स्थूल व्यवस्था विधान में व्यक्ति को आबद्ध कर सकती है और मेरी समझ में सौंदर्य स्वतंत्रता है। आज जब अधिकांश कला–कृतियाँ, कंप्यूटर और फिक्शन का परिणाम रह गई है, तब सौंदर्य के सृजनात्मक स्वरूप मशीनी जटिल कला–कृतियों के उत्पादन के बावजूद मनुष्य को सुंदर वस्तुएं तो उपलब्ध हुई है किंतु यह मनुष्य से सृजन का आनंद छीनता जा रहा है। पूँजीवाद और मार्क्सवाद दोनों सापेक्ष है पूँजीवाद कोई आध्यात्मिक विचार सरणी नहीं अपितु यह आध्यात्मिक अनुभवों से उपलब्ध मनोवैज्ञानिक ज्ञान का शोषण है उत्तर आधुनिकतावादी दौर में ल्योतार इसी ओर ध्यान खींचता है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता का इसीलिए पड़ी है क्योंकि पूँजीवाद ने पदार्थ के तल पर सौंदर्य को उपयोग की वस्तु बनाकर उसके माध्यम से भी शोषण के कार्यक्रम को गति दी है किंतु जब तक मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के पदार्थ के साथ भाव का योग नहीं हो जाता, वह पूँजीवाद के समक्ष पराजित ही होगा क्योंकि मार्क्सवाद के सदिच्छा होने पर भी उसने भावतत्व को आत्मसात नहीं किया और पूँजीवाद ने अपनी शोषणेच्छा होने के बावजूद भी भाव तत्व को आत्मसात कर लिया है और मेरी समझ में यदि मार्क्सवादी सौंदर्यबोध में भाव तत्व प्रवेश नहीं करता तो वह मृत ही रहेगा और जैसे ही उसमें भाव तत्व प्रवेश होगा तब मार्क्सवाद स्वयं तिरोहित हो जाएगा और जो हमारे समक्ष आएगा वह विशुद्ध जीवन सौंदर्य होगा।

नव मार्क्सवाद इसी दिशा में बढ़ता दिखाई देता है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र से मेरी गहरी सहानुभूति है किंतु उसकी स्वीकृति मेरे लिए कोई संभव नहीं क्योंकि उसकी वाद बद्धता स्वयं उसके विरुद्ध तर्क की प्राचीरें खड़ी करती है। उदाहरणार्थ मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र सर्वहारा की कुरूपता के बावजूद भी उसमें सौंदर्य तलाशता है और पदार्थवादी दृष्टिकोण से सौंदर्य तो रूप और वस्तु में होना चाहिए फिर भला मार्क्सवादी सर्वहारा में कौन सा सौंदर्यबोध खोजते हैं ? अस्तु मनुष्य की भाव सत्ता ही है जो सुंदर रूप के न होने पर भी उसकी ईमानदारी, मेहनत और मानवीय गुणों के रूप में प्रतिभासित होती है। मुक्तिबोध के संवेदनात्मक ज्ञान की व्याख्या इस संबंध में भाव और वस्तु का ही समन्वय है ; सौंदर्य को इन दोनों के रूप में परिभाषित होना आवश्यक है किंतु समस्या यही है कि भाववादी भाव का हल्ला मचाते हैं और वस्तुवादी वस्तु का मुक्तिबोध, नामवर सिंह, मैनेजर पांडेय द्वितीय स्थिति में खड़े हैं। इसी कारण भक्तिकालीन सौंदर्य शास्त्रीय विवेचन मार्क्सवादी सौंदर्य के बाहर की वस्तु है। हाँ ! रीतिकालीन सौंदर्यबोध अवश्य पदार्थ निष्ठ है; जहाँ स्त्री शरीर शरीर से ज्यादा कुछ नहीं। सौंदर्य का समूचा व्यापार भाव और वस्तु के मध्य की प्रक्रिया है ठीक रस के साधारणीकरण व्यापार की तरह किंतु दुर्भाग्य से वाद सिद्धि के लिए मार्क्सवादियों ने रस की उपेक्षा की है। मेरी समझ में मानव इतिहास में वस्तु और भाव के मध्य की इतनी संतुलित मनीषा कही नहीं हुई। मुक्तिबोध में यह संतुलित मनीषा कहीं–कहीं प्रस्फुटित होती दिखाई देती हैं किंतु वाद की सीमाओं के कारण उनकी चिंता कुंठित होकर रह गई है। "प्रगतिवादी द्वारा लिखी हुई क्या ऐसी कोई पाठ्यपुस्तक तैयार की गई, जिसे सामान्य पाठक हृदयंगम कर सके और जिसमें ज्ञानमीमांसा से लेकर, दार्शनिक सिद्धांतों और समाज दर्शन से होते हुए, सौंदर्य–दर्शन की गहराई में डूबकर साहित्य में कल्पना–चित्र के आत्मपरक और

***शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।**

वस्तुपरक महत्त्व तक पर समुचित और विस्तृत प्रकाश डाला गया हो, और जिसमें हिंदी के लेखकों के मन से बार–बार उठने वाले प्रश्नों पर खूब विचार करके उनसे विशेष संदर्भो को समझकर उनका समाधान किया गया हो। क्या ऐसी पुस्तकें लिखी गई है ? नहीं, नहीं।"[1] यह सौंदर्य का आत्मपरक और वस्तुपरक रूप, हमारी खंड दृष्टि और भाषा ही समस्या के कारण उपजा है आलोचना की दुनिया में वे बच्चे ही होंगे जिन्होंने अपना साध्य किसी वाद को बना रखा होगा। आलोचक का एकमात्र हेतु जीवन सत्य होना अति आवश्यक है। इसी उत्तरदायित्व से च्युत होकर तथाकथित आलोचक अपने नाम के विश्लेषण में प्रख्यात जोड़ना नहीं भूलते जैसे ख्याति हेतु हो। भारतीय ज्ञान परंपरा में यश लीप्सा और ज्ञान लीप्सा तक को सत्य उपलब्धि में बाधक बताया गया है; अब जो नादान आलोचक हेतुवाद का शिकार हो गए हैं उन्हें मीरा की अहेतुकी भक्ति से अवश्य प्रेरणा लेनी चाहिए या भगवतगीता के अनाशक्त कर्मयोग या बुद्ध के साक्षी भाव से या आधुनिक आलोचना दृष्टि में टी.एस. इलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत से तो कम से कम कुछ सीखना ही चाहिए।

'वाद विवाद संवाद' में संकलित नामवर सिंह के भाषण 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विकास की दिशा' को देखने पर ऐसा दिखाई पड़ता है कि नामवर सिंह मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को दिशा दिखाने की बजाय अर्जित ज्ञान की जुगाली करते हैं और इसमें सौंदर्य दृष्टि का समाधान नहीं छलकता अपितु राजनीतिक दांवपेच ही दिखाई देते हैं क्योंकि मार्क्सवाद की वह जकड़ ढीली होती जाती है। नामवर सिंह इससे तिलमिलाकर स्वस्थ सौंदर्य का सहारा खोजते दिखाई देते हैं किंतु वे स्वस्थ के बहाने अपनी पकड़ को सौंदर्य की आड़ में मजबूत करने का प्रयत्न करते हैं। "यह भी एक विडंबना ही है कि इधर जबसे विचार प्रणाली को मार्क्सवादी चिंतन के अंतर्गत प्रमुख ही नहीं बल्कि केंद्रीय स्थान प्राप्त हुआ है, स्वयं मार्क्सवाद में आस्था क्षीण हुई हैं। देखा जाए तो 'विचार प्रणाली के युग का अंत' अब हुआ है। यह तथाकथित नव मार्क्सवाद की देन है।"[2] जब तक आयाम में समूचे सत्य को समाहित करने का प्रयत्न किया जाएगा। तब तक आस्था का क्षीण होना तय है, फिर संदेह के दायरे में खड़ी आस्था का मूल्य ही क्या है ? समग्र सत्य को समाहित करने के लिये आलोचक की वह सामर्थ्य भी होनी चाहिए जिससे वह नाना सरिताओं की भाँति विरोधी विचारसरणियों को भी स्वयं में अंतर्भुक्त कर ले। नामवर सिंह के चिंतन की अपेक्षा मुक्तिबोध के चिंतन में लोच दिखाई पड़ती है किंतु वह लोच ठोस मार्क्सवादी घेरे से बाहर जाकर जलतरंग की भांति फैलती नहीं है अपितु संकुचित रह जाती है। नामवर सिंह में पांडित्य बुद्धि हैं किंतु वे विवेक की उस धार को प्राप्त नहीं कर पाते जो सत्य की अनिवार्य मांग है। सत्य का अनिवार्य मूल्य सत्य ही है और सत्य असीम है उसको वाद में बांधना ही नादानी है। "'सौन्दर्यानुभूति' अथवा 'कलानुभूति' इस विचार प्रणाली का ब्रह्मास्त्र है जिसके द्वारा जीवन की समस्त समस्याओं से सहज ही त्राण संभव है। आकस्मिक नहीं कि सौंदर्यशास्त्र में सबसे अधिक चिंतन–मनन इस सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप को लेकर ही हुआ है; इसके बाद अगर किसी चीज़ पर। विचार हुआ है तो वह 'सौंदर्य' है और यह सौंदर्य भी सौंदर्यशास्त्रीय उहापोह की प्रक्रिया में इतना निर्गुण बन गया कि अंततः आई. ए. रिचड्र्स को 'दैट पैरालाइज एपरिशन ब्यूटी' के रूप में इसे याद करना पड़ा।"[3] नामवर सिंह और अति भाववादी आलोचकों की एक ही समस्या है। मार्क्सवादी आलोचक शरीर से अशरीरी का निषेध कर जीवन सत्य को उपलब्ध करना चाहते हैं और अति भाववादी अशरीरी से शरीर का निषेध कर जीवन सत्य को उपलब्ध करना चाहते हैं और दोनों नादान है, दोनों तर्क भी जानते हैं पर समस्या वही बनी रहती है भाव सत्य ? या वस्तु सत्य ? दोनों सत्य को भी पाना चाहते हैं और एक का निषेध भी करते है। इस दशा में भाव और वस्तु सापेक्ष धर्म है। खंड दृष्टि ही सौंदर्य की इस चिंतना की समस्या है। इसीलिए तो भाववादी को वह परी नजर आती है और वस्तुवादी को भूत किंतु सत्य दोनों ही नहीं जानते और वह समग्र है।

डॉ. रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'आस्था और सौंदर्य' में सौंदर्य को वस्तु सत्ता पर ही आरोपित करते हैं। आचार्य शुक्ल यद्यपि वामपंथी आलोचक नहीं है तथापि तत्व विवेचना में वे भी सौंदर्य को पदार्थ से पृथक नहीं देख पाते। इसी कारण क्रोचे उनको खटकता है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल वस्तुवादी ही है। रामविलास शर्मा का निष्कर्ष है... "सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है, मानव जीवन और

मनुष्य की चेतना में है। सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है, उसकी सत्ता मनुष्य के भावजगत और उसके विचारों में भी है। कला के माध्यम के अनुरुप उसकी विषयवस्तु में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का अनुपात निश्चित होता है।"[4] भावों के अभाव में सौंदर्यास्वाद नहीं किया जा सकता और रहा वस्तु और भाव का मसला तो मेरी समझ में सौंदर्य भाव में है, क्योंकि भाव के साथ वस्तु तत्व सापेक्ष है इसी भाँति सौंदर्य वस्तु में है कहने पर भाव उसके सापेक्ष हो लेता है। आधुनिक समझ चेतना और जड़ तत्व को पृथक् दृष्टि से नहीं देखती। पृथकता शब्दों की अपनी समस्या है, सभी सापेक्ष धर्म विज्ञानमय है और विज्ञान की समझ ही सौंदर्य की आनंदमय दशा है। इस प्रकार योग के पंचकोश की अवधारणा और जड़ सृष्टि में एक सुव्यवस्था दिखाई पड़ती है किंतु समस्या वादियों के कारण उत्पन्न होती है जो या तो जड़ को पकड़ बैठेंगे या चेतना को और अस्तित्व जड़ और चेतना की संयुक्त अवस्था का नाम है। वामपंथी वादी है इसलिए उनके वक्तव्यों से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता क्योंकि वे विशुद्ध समन्वय में भी वाद के तत्व बचाए रखने का भरसक प्रयत्न करते हैं। रामविलास शर्मा के इस उद्धरण में यही दिखाई देता है।

शिल्प पक्ष की विवेचना में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की चिंतना उतनी प्रगल्भ नहीं जितनी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की है किंतु सौंदर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण से द्विवेदी जी के चिंतन में पराकाष्ठा दिखाई देती है। वे आलोचना के क्षेत्र में वादी होकर नहीं आते। हिंदी आलोचना की त्रिमूर्तियों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी में सभी अंतर्विरोध अंतर्भुक्त हो जाते हैं इसलिए वे सौंदर्य को समन्वय कहते हैं और वह समन्वय कोई सस्ती चीज़ नहीं है अपितु उसके पीछे स्वीकार और अस्वीकार का बल मौजूद है। "हम सारे बाह्य जगत को असुंदर छोड़कर सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकते, सुंदरता सामंजस्य का नाम है, जिस दुनिया में छोटाई और बढ़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश–पाताल का अंतर हो वह दुनिया बाह्य सामंजस्य नहीं कही जा सकती, वह सुंदर भी नहीं। इस बाह्य सुंदरता के 'ढूह' में खड़े होकर आंतरिक सौंदर्य की उपासना नहीं हो सकती।"[5] साहित्य ज्ञानस्वरूप है इसलिए वह सामान्य व्यक्ति को साहित्यिक सहृदयता से अस्तित्व की सहृदयता की ओर ले जाने का निमित्त है। इस कारण आलोचकों और रचनाकारों का यह दायित्व बनता है कि वे संसार को बाहर और आंतरिक (भावात्मक) रूप से उन्नत बनाने के सतत प्रयास करें और इस उद्देश्य के लिए धर्म, राजनीति, मनोविज्ञान, दर्शन आदि सभी ज्ञान अनुशासनों का उपयोग करना अति आवश्यक है क्योंकि ज्ञान के किसी भी अनुशासन की उपेक्षा घातक है और मैं फिर कहना चाहता हूँ कि शुद्ध भाव समाज और परिस्थितियों का संवर्धन करते हैं और अच्छी सामाजिक परिस्थितियां व्यक्ति भाव को शुद्ध करती है, जिससे सौंदर्य; जगत व्यापारों में मुक्त रूप से प्रकट हुआ दिखाई देता है।

जब हम विचार करते हैं कि सौंदर्यकरण की आवश्यकता कहां है तब समाज और राजनीति के साथ व्यक्ति भी निगाह में आ जाता है क्योंकि व्यक्ति समूह से ही समाज की विनिर्मिति होती है और व्यक्ति का मूल मन है और मन विचार व परिस्थिति–परिवेश से निरंतर प्रभावित होता है; इसी भाँति विचार और परिस्थिति–परिवेश भी निरंतर मन से प्रभावित होते हैं। जैसे गुण ज्ञान आश्रित है और ज्ञान गुण आश्रित हैं, उसी भाँति व्यक्ति मन और समाज भी अन्योन्याश्रित है। मार्क्सवादी चिंता सीधे ही समाज को बदल देने का दुराग्रह लेकर चलती है। इकाई से इतर समाज की कल्पना करना वायवीयता है, किंतु ऐसा भी नहीं कि मैं घोर व्यक्तिवाद का समर्थक हूँ, किंतु परिवर्तन इकाई से ही हुआ करते हैं। क्रांतियां इकाई से ही चलती है। स्वयं मार्क्स को ही देखिए, उसके पीछे जो इतना जमघट खड़ा दिखाई देता है, वह समाजवाद का परिणाम नहीं, व्यक्तिवादी स्वर की स्फूर्णा का ही विस्तार है। मन और समाज को सुंदर बनाने का साधन और साध्य विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। मार्क्सवाद पूँजीवाद की ही प्रतिक्रिया है। यदि दोनों में से हम एक को भी नष्ट करते है तो दूसरा स्वतः नष्ट हो जाएगा। जैसे पृथ्वी अपनी गर्मी बाहर निकालने के लिए ज्वालामुखियों का सहारा लेती है, उसी प्रकार पूँजीवाद भी स्वयं को संयत रखने के लिए मार्क्सवाद का सहारा लेता है। अनुभव यह कहता है कि शोषक और शोषित दोनों शोषण की प्रक्रिया के लिए जिम्मेदार है। शोषित अपने अज्ञान और वासनाओं से इसमें सहयोग देता है और शोषक अपने ज्ञान के दुरुपयोग से अक्षय वासनाओं को पूरा करने के लिए शोषण को अंजाम देता है।

मार्क्सवाद का जड़वादी आग्रह ही इसकी मूल समस्या है ; यह चेतना और मन से बचने का प्रयास करता है, किंतु आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में जड़वाद की दीप्ति क्षीण होती जाती है। मार्क्सवाद की इस संदर्भ में विशेष महत्त्वता है कि इसने धर्म की रूढ़ तंद्रा पर प्रहार किया है किंतु अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र की सभी समस्याओं के समाधान जड़वाद में नहीं मिल सकते। वे मिलते हैं मनोविज्ञान में इसलिए विभिन्न धर्मों को आज वैज्ञानिक प्रकाश की आवश्यकता होती है और उनका स्रोत मनोविज्ञान है। साहित्य का अधिकांश मनोविज्ञान और मनः स्थितियों का आख्यान है। हम किसी भी आयाम को बलपूर्वक पकड़ कर नहीं बैठ सकते। हमारे साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक आधार आपस में सहसंबद्ध है। मशीन द्वारा उत्पादित कलात्मक वस्तुएं मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का विषय होनी चाहिए ; मार्क्सवादी छद्म चेतसिय सौंदर्य से अपने जड़वाद का समाधान निकालता है। वरना मज़दूरों और दरिद्र लोगों में तो जड़वाद के प्रकाश में रूप और शरीर का ही सौंदर्य देखा जाना चाहिए था किन्तु वह क्या है जो मृत व्यक्ति के आकर्षक और सुडोल शरीर से सौंदर्य की दीप्ति को तिरोहित कर देता है या व्यक्ति के मनोभाव उसके प्रयास और भाव भंगिमाओं में दिखाई देता हैं ? वह चेतना है और यदि शुद्ध मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र खड़ा किया जाता है तो वह मृतप्राय होगा। समाज की इकाई व्यक्ति हैं। व्यक्ति के चिन्मय वपु और भाव वपु में जब तक सत्य का तारतम्य स्थापित नहीं होता तब तक स्वयं व्यक्ति और व्यक्ति समूह क्रांतियां करते भी रहे तो उनका मूल्य क्या है ? सबसे मूल्यवान वस्तु बोध है। जितना वह प्रकट होता है वह उतना ही सूक्ष्म होता जाता है और विराट अस्तित्व के तात्विक स्वरूप की ओर बढ़ता है। मार्क्स स्वयं मनोविज्ञान की गहरी पैठ से बाहर खड़ा है। वह उसी व्यक्ति की तरह है जो नदी में बिना उतरे उसकी गहराई को छिछला कहकर शास्त्रार्थ करने लगता है।

मार्क्स और हेगेल की अपनी दो दुनियां है और इनमें संप्रेषण की समस्या इस कदर है कि मार्क्सवादी उस ओर देखे बिना सब सिद्ध कर देना चाहते हैं और प्रत्ययवादी दुनिया को भूलकर प्रत्ययव में डूब जाना ही मोक्ष समझते हैं। तब दोनों ओर के दार्शिनिकों की सौंदर्य विवेचना संदिग्ध दिखाई पड़ती है इसलिए क्रोचे आत्मवादी हो जाता है और आचार्य शुक्ल अपनी वस्तुवादी दृष्टि से उसे उखाड़ने का भरसक प्रयत्न करते हैं। तब शुक्ल जी स्वयं भी संदिग्ध दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि वस्तु सत्य और भाव सत्य अन्योंनाश्रित है। इनमें से एक तत्व ध्रुव नहीं ये परस्पर विरोधी दिखाई पड़ते हैं और ये विरोधी हैं इसीलिए इनमें प्रबल आकर्षण है और यह आकर्षण ही सौंदर्य को परिभाषित कर सकता है। सौंदर्य किसी वाद की वस्तु नहीं हो सकता किंतु नासमझ लोग जब भाषा पर अधिकार कर लेते हैं तब मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र खड़ा हो जाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी कारण मार्क्सवादियों को अपने भटकाऊ नजर नहीं आते अध्यात्मवादियों के भटकाऊ नजर आते हैं; वैसे भी आंखें स्वयं का साक्षात्कार कब कर पाती है ? यही तो अध्यात्मवादियों की भी समस्या है जो मैनेजर पांडेय की है। "समकालीन समय में नया सौंदर्यशास्त्र विकसित करने का उद्देश्य है ऐसा सौंदर्यशास्त्र विकसित करना, जो वर्तमान भारतीय समाज, इतिहास और साहित्य के लिए प्रासंगिक हो। जिससे हमारी कला दृ परंपरा के जनवादी तत्वों का समावेश हो, देशी विदेशी भाववादी आध्यात्मवादी सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन के जीवन निरपेक्ष कलावादी मूल्यों के भ्रमों और भटकाओ से बचाव हो और जो समकालीन रचनाशीलता के लिए उपयोगी हो। ऐसे सौंदर्यशास्त्र के विकास के लिए हमें अनेक वैज्ञानिक मोर्चों पर संघर्ष करना होगा। सबसे पहला संघर्ष तो प्राचीन और आधुनिक भारतीय सौंदर्य शास्त्रीय चिंतन की भाववादी अध्यात्मवादी परंपरा से करना होगा, जिसके संस्कार अब भी हमारी कला चेतना में बसे हुए है और जनवादी साहित्य और कला के सौंदर्य बोध में बाधक सिद्ध होते हैं।"[6] अध्यात्मवादियों की अपेक्षा है मार्क्सवादियों में दुराग्रह अधिक है और मार्क्सवाद का एक ऐसा ही दुराग्रह इसे वैज्ञानिक दर्शन मानना भी है जो कि समय के साथ निराधार सिद्ध होता जाता है। आचार्य भरत की रस परंपरा में वस्तु पक्ष और भावपक्ष का यथा स्वरूप प्राकट्य हुआ है किंतु मार्क्सवादियों को समस्या भाव से है और भाव का यह अस्वीकार ही मार्क्सवाद को संघर्ष की शब्दावली से आतंक करता है। भाव और वस्तु को नकारने वाले पंडित किसी भी ओर से ऐसा करें वे नादान ही कहे जाएंगे। जब कोई आलोचक विभिन्न पक्षों को समझ नहीं पाता तो वह संघर्ष की ओर उन्मुख होता है पर संघर्ष से होता कुछ नहीं समझ ही सुसंधि प्रस्ताव और शांति को

स्थापित करने वाली है। संघर्ष मूढ़ता छूटते ही छूट जाते है। भला सौंदर्य के लिए संघर्ष की आवश्यकता कैसे हो सकती है ! संघर्ष यदि मानसिक तल पर हुआ हो तो वहाँ समझ आविर्भूत होती है, किंतु इस दशा में विक्षिप्त होने का खतरा भी बना रहता है। संघर्ष असौंदर्य ही बढ़ाता है इसलिए जनसाधारण में हम जितनी समझ को विकसित करने के प्रयास कर सकते हैं, उतना ही श्रेष्ठ है। तब शिक्षा को मुक्त आकाश की सीमाओं में खोल देने की आवश्यकता है विचार श्रेणियों के पिटारे नये–नये कैदखानों का ही निर्माण करते हैं। इस प्रकार समाज की उन संस्थाओं और माध्यमों पर प्रबुद्धों की दृष्टि होनी आवश्यक है जिनसे समाज कुछ सीखता है किंतु प्रबुद्धों को समाज से ज्यादा स्वयं पर दृष्टि रखने की आवश्यकता होगी क्योंकि कब कौन निरंकुश हो जाये कहा नहीं जा सकता इसलिए प्रबुद्धों की सभाओं द्वारा शिक्षा और संचार के माध्यमों को संवर्धित करने की आवश्यकता है जिसमें सत्य और सत्य के प्रसार का संकल्प निहित हो। इसी से समाज सौंदर्य और समृद्धि की ओर बढ़ेगा। जंग लगे लोहे पर हथौड़े की चोटें बेकार है। प्रबोद्ध का ग्रिस ही पुर्जों को वस्तुस्थिति प्रदान कर सकता है; वह स्थिति जहाँ सौंदर्य और आनंद मनुष्य के भौतिक और मनोवैज्ञानिक संसार में बरस पड़े। प्रबोद्ध की दशा में व्यक्ति और समाज किसी भी तत्व को नकारते नहीं अपितु उसके सार तत्वों को अंगीभूत कर लेते हैं। मीरा का आलोचना विवेक जैसे सार को पकड़ कर व्यर्थ को छोड़ देता है उसी भाँति जड़ और चेतना के द्वंद्व से प्रबुद्ध आलोचक को दोनों का स्वीकार करते हुए दोनों दिशाओं में सौंदर्य के प्रयास हेतु उदृतत होना आवश्यक है न की दही और छाछ के वाद बनाकर शास्त्रार्थ करने की; मन और शरीर को विभाजित करने वाले सभी दृष्टियां चाहे वे आध्यात्मिक हो या भौतिकवादी वे सभी वचंनाएं है उनसे मनुष्य का यह लोक और मनोलोक सिद्ध न होगा।

सन्दर्भ–सूची :–

1. जैन, नेमिचन्द्र (सम्पा.), मुक्तिबोध समग्र (भाग दृ 6), नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2019, पृ. सं. 180।
2. सिंह, नामवर, वाद विवाद संवाद, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, छठा संस्करण, 2019, पृ. सं. 77।
3. वही, पृ. सं. 73।
4. शर्मा, डॉ. रामविलास, आस्था और सौंदर्य, इलाहबाद, किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, १९८३, पृ. सं. ३३।
5. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, अशोक के फूल, इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन, तैंतीसवां संस्करण, 2016, पृ. सं. 157।
6. पाण्डेय, मैनेजर, शब्द और कर्म, बीकानेर, धरती प्रकाशन, 1981, पृ. सं. 31।

꙳★꙳

निर्गुण संत काव्य-परम्परा और दादू की कविताई

मोहन कुमार*

प्रस्तावना :— हिन्दी साहित्य में निर्गुण संत काव्य का विशिष्ट महत्त्व है। संत कवियों ने अपनी वाणी से भारतीय संस्कृति, समाज और जनमानस को विभिन्न प्रकार से समृद्ध करने का अविस्मरणीय कार्य किया है। कबीर, रैदास, नानक, मलूकदास, सुंदर दास, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, संत पीपा, धन्ना आदि अनेक संत कवियों की कविताओं में भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन परम्परा का जीव द्रव्य सुरक्षित और संरक्षित है। संत कवि दादू दयाल भी इसी परंपरा के महत्वपूर्ण कवि हैं। उनकी कविताओं में संत काव्य की समस्त विशेषताएं अपनी मौलिकता के साथ विशिष्ट रुप से उपस्थित होती हैं। दादू के व्यक्तित्व और उनकी कविताओं की महत्ता और भारतीय संत काव्य परंपरा में उनके अवदान के कारण उन्हें 'राजस्थान का कबीर' कहा जाता है।

बीज शब्द :— भक्ति–आन्दोलन, संत–काव्य, निर्गुण–मार्ग, बाह्याडम्बर–विरोध, आचरण की पवित्रता एवं शुद्धता, सहज ग्राह्य भक्तिमार्ग आदि।

आलेख :— मध्यकाल में हुआ 'भक्ति आंदोलन' भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। भक्ति आंदोलन को प्राय सभी विचारकों, विद्वानों ने एक ऐसे युगांतरकारी घटना के रूप में देखा है, जिसने अपने समय और समाज को व्यापक रूप से प्रभावित, प्रेरित और परिवर्तित किया। भक्ति आंदोलन के दौरान समाज के उपेक्षित तबके और वर्ग के लोग पहली बार सामाजिक घटनाक्रम के केंद्र में आएं। इस दौरान पूरे राष्ट्र में एक अलग तरह की चेतना और ऊर्जा का प्रसार हुआ। उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम समग्र भारत से अनेक संत, कवि, विचारक आदि निकल कर आए और पूरे भारत को अनेक तरह की भिन्नताओं के बावजूद एक सूत्र में बांधने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भक्ति आंदोलन मूलतः एक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में सामने आता है। परंतु इसने भारत के सामाजिक और साहित्यिक पुनर्नवता में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। दक्षिण भारत से भक्ति आंदोलन की जो लहर चली आ रही थी, उत्तर भारत में आकर उसे नवीन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा और इस प्रक्रिया में हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए स्वीकार्य एक सामान्य भक्ति मार्ग निर्मित हुआ जो 'निर्गुण मार्ग' कहलाया। इससे पूर्व सामान्यत भारतीय भक्ति मार्ग ईश्वर के सगुण और साकार रूप को ही भक्ति के लिए उपयुक्त समझकर स्वीकार करता था। निर्गुण और निराकार ब्रह्म को भारतीय समाज में भक्ति और प्रेम का विषय नहीं माना जाता था। ऐसे में संक्रमणकालीन भारतीय समाज और समग्र मानव जाति को उस विषम काल में विश्व बंधुत्व की भावना से युक्त कर प्रगति पथ पर आगे बढ़ाने के लिए भारतीय संतो ने अपने विचारों के माध्यम से दिशा दिखाने करने का कार्य किया। नाथ पंथ के योगी और भक्त नामदेव ने निर्गुण पंथ के लिए मार्ग निकाला। कबीरदास निर्गुणमार्ग निर्दिष्ट प्रवर्तक माने जाते हैं। कबीर ने भारतीय अद्वैतवादी दर्शन की चुनिंदा विशेषताओं, योगियों और सूफ़ी फकीरों के संस्कार और वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिभाव को मिलाकर निर्गुणमार्ग का निर्माण किया। यही कारण है कि निर्गुण संतों की रचनाओं में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है तो कहीं योगियों के नाड़ी चक्र, सूफियों के प्रेम तत्व और कहीं अहिंसावाद की झलक दिखाई पड़ती है। निर्गुण मार्ग के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं ''तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी ही कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिलाजुला भाव इनकी बाणी में मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्ति पूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की

***शोधार्थी हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।**

कुर्बानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्म ज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर पूजा की उन भिन्न–भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।''[1] निर्गुण भक्ति के इस भाव ने मनुष्य की सामान्य भावना को आगे बढ़ाने का काम किया। इससे जनता के बीच भी आत्म गौरव का भाव जागृत हुआ। समाज के हाशिये के लोगों के लिए भी भक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। कबीर के अतिरिक्त निर्गुण पंथ में अनेक संत और कवि हुए। कबीर से लेकर रैदास, धर्मदास, गुरु नानक देव, दादू दयाल, सुंदरदास, मलूकदास, गरीबदास, अक्षर अनन्य आदि अनेक संत–कवि हुए जिन्होंने निर्गुण संत काव्य–परंपरा को आगे बढ़ाया। इनमें कबीर के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्गुण संत कवि दादूदयाल हुए जिन्होंने निर्गुण संत काव्य–परंपरा का व्यापक प्रचार–प्रसार किया और उसे सामान्य जनता के बीच लोकप्रिय बनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। निर्गुण संत काव्य परंपरा में दादू दयाल के विशिष्ट अवदान का पता इस तथ्य से चलता है कि उनके 152 शिष्यों का उल्लेख किया जाता है जिनमें से 100 शिष्यों ने दादू की भांति ही निरंजन राम का भजन किया और 52 शिष्यों ने दादू दयाल के मत को पूरे भारत में प्रचारित–प्रसारित किया। सुंदर दास और गरीब दास जैसे संत कवि दादूदयाल के शिष्य परंपरा में ही आते हैं।

कबीर आदि अन्य भक्तों और संतों की तरह दादू दयाल के जीवन के बारे में भी प्रामाणिक जानकारी का अभाव है। इनका जन्म, मृत्यु, जीवन और व्यक्तित्व किंवदन्तियों, अफ़वाहों और कपोल–कल्पनाओं से मिश्रित है। उपलब्ध स्रोतों के अनुसार दादू दयाल का जन्म विक्रमी संवत 1601 में वर्तमान गुजरात के अहमदाबाद में हुआ था। उनके जन्म के संबंध में भी कई कथाएं प्रचलित हैं। कहा जाता है कि ''दादू बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लादी राम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे।''[2] पंडित लोधी राम और उनकी पत्नी बसी बाई ने ही बालक दादू दयाल का पालन पोषण किया। बालक दादू दयाल के बाल्यावस्था के भी कई चमत्कारिक घटनाएं प्रचलित हैं। 19 वर्ष की अवस्था में दादू अहमदाबाद से राजस्थान के लिए प्रस्थान कर गए। जिसके बाद उनका सारा जीवन निर्गुण मत के प्रचार–प्रसार और सत्संग में बीता। निर्गुण संत काव्य–परंपरा में दादू दयाल की महत्ता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्हें 'राजस्थान का कबीर' और 'दूसरा कबीर' जैसे विशेषणों से संबोधित किया जाता है। दादू ने अक्षर अक्षर में आत्मज्ञान की महिमा का प्रतिपादन किया। आत्मज्ञान की चेतना के प्रसार के साथ–साथ दादू ने उस महत्वपूर्ण सच्चाई को भी जनता को बताया जिसके अनुसार मनुष्य आपस के सभी विरोधों को छोड़ कर प्रत्येक प्राणी में स्वयं के आत्मा को ही उपस्थित देखता है। दादू मनुष्य से प्रत्येक मनुष्य को स्वयं के ही सामान देखने की बात करते हैं। जहां एक आप ही आप है वहां पर बैर और विरोध संभव ही नहीं है। इस अद्वैत ज्ञान के उपदेश के द्वारा दादू ने हिंदू मुसलमान के बीच परस्पर मेल की बात की।

निर्गुण पंथ के विकासक्रम में अनेक संत संप्रदायों का उदय हुआ। उत्तर भारत इन संप्रदायों का केंद्र था क्योंकि अधिकांश संप्रदाय यही विकसित हुए। ये संत संप्रदाय अथवा पंथ कबीर से बहुत अधिक प्रभावित थे। इनमें साध, निरंजनी लालदासी, जसनामी, दादू आदि पंथ प्रसिद्ध हैं। दादू ने निर्गुण मार्ग से प्रेरित व प्रभावित जो पंथ चलाया वह 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने जीवन अनुभवों के आधार पर दादू ने 'ब्रह्म संप्रदाय' नाम की एक संस्था स्थापित की। आगे चलकर उसी का नाम दादू पंथ हो गया।''[3] संत दादू का व्यक्तित्व बहुत ही विनम्र और सहज था जिसकी छाप उनकी बनियों पर भी दिखाई पड़ती है। विनम्रता और सहजता जैसे गुण दादू की रचनाओं में भी स्पष्ट रूप से मौजूद हैं और उनको विशेष बनाती हैं। दादू का जन्म स्थान भले ही गुजरात था परंतु उन्होंने राजस्थान को अपनी कर्मभूमि बनाया। दादू ने अपने पंथ में वाद–विवाद, काम, कल्पना से परे समदृष्टि, समानता, भगवत प्रेम और भक्ति के आधार पर अपने पंथ को स्थापित करने का प्रयास किया। अपने मत के संबंध में दादू लिखते हैं –

''भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।
द्वैत पंख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बाद बिबाद काहु सौं नाहीं मैं हूं जग थें न्यारा।।

समसृष्टि सूं भाई सहज में आपहिं आप बिचारा।
मैं,तैं,मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निरविकारा।।
काम कल्पना करें न कीजै पूरन ब्रह्म पिराया।
एहि पथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तब सहज संभारा।''[4]

दादूपंथ के प्रवर्तक संत दादूदयाल धर्म–सुधारक, समाज–सुधारक और रहस्यवादी कवि थे। मध्यकालीन निर्गुण संत कवियों में उनका व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली और विशिष्ट था। उनके शिष्य रज्जब के ''धुनि ग्रभे उत्पन्नों, दादू योगेन्द्रा महामुनि''[5] मतानुसार दादू धुनिया परिवार में उत्पन्न हुए थे और जाति के मुसलमान थे। दादू एक प्रतिभाशाली कवि थे। दादू के रचे बीस सहस्त्र पदों और सखियों की चर्चा की जाती है किंतु इनमें से अब बहुत कम ही उपलब्ध हैं। उनके दो शिष्यों संतदास एवं जगन्नाथदास ने दादू की रचनाओं का संग्रह 'हरडेवाणी' शीर्षक से किया। इस संग्रह में कई त्रुटियां थीं जिनको दूर करते हुए रज्जब ने दादू की रचनाओं का दूसरा संग्रह 'अंगबधू' के नाम से तैयार किया। परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'दादूदयाल' भी दादू की रचनाओं का प्रमाणिक संकलन माना जाता है। पंडित श्रीचंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी द्वारा संपादित एवं संत साहित्य अकादमी वाराणसी द्वारा वर्ष 1985 में प्रकाशित 'श्रीदादूबाणी' भी दादू की रचनाओं का प्रमाणिक संकलन के रूप में प्रसिद्ध है।

दादू की कविता कबीर से प्रभावित होते हुए भी उससे अलग और विशिष्ट है। कबीर के समान दादू की बनियों में उक्ति का चमत्कार नहीं है। खंडन और वाद–विवाद के प्रति भी दादू की रुचि अपेक्षाकृत कम ही रही। निर्गुणमार्गियों की भांति दादू की रचनाओं में भी परब्रह्म ईश्वर की सर्वव्यापकता, आत्मबोध, संसार की अनित्यता, जाति–पाती का विरोध, हिंदू और मुसलमानों का अभेद, प्रेम और समानता आदि का भाव मिलता है। किसी मतवाद में उलझे बिना दादू भक्ति को सहज भाव से स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्म को कहीं दूर नहीं बल्कि हमेशा अपने भीतर और प्रकृति के कण–कण में व्याप्त मानते हैं

''दादू देखु दयाल को, सकल रह्या भरपूरि।
रोम–रोम में रमि रह्या, तूं जिनि जाणौ दूरि।।''[6]

दादू ने अपनी कविताओं के माध्यम से मन, वचन और आचरण की शुद्धता और पवित्रता पर विशेष बल दिया है। राम नाम के चिंतन को ही वे अपना धर्म कहते हैं। नाम स्मरण का निर्गुण भक्ति मार्ग में विशेष महत्व है। दादू के पूर्व के संतो ने भी राम नाम का स्मरण और चिंतन किया है। इसलिए दादू भी राम नाम के चिंतन और स्मरण को अपना कर्तव्य समझते हैं। राम के नाम के सिवा जीव के मुख से कुछ और निकलने को वो अपराध समझते हैं। ऐसे ऐसे लोगों को तीनों लोकों में कहीं स्थान नहीं मिलता है। अर्थात दादू एकनिष्ठ भाव से राम नाम के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं

''राम तुम्हारे नाम बिन जै मुख निकसै और।
तो इस अपराधी जीव को तीन लोक कत ठौर।।'[7]

संत दादू ने साधना के क्षेत्र में व्याप्त धार्मिक पाखंड, दिखावटीपन और व्यर्थ आडंबरों की आलोचना की और साधकों को इससे दूर रहने का उपदेश दिया। दादू ने मन को ही माला समझने और गुरू उपदेश को ही तिलक मानने पर जोर दिया। इसके अतिरिक्त बाहरी और भौतिक माला और तिलक को उन्होंने व्यर्थ कहा। दादू भक्ति के मार्ग में माला और तिलक धारण करने के दिखावेपन के खिलाफ थे। क्योंकि इन बाह्य आडंबरों से भक्ति के मार्ग में कोई सहायता नहीं मिलती है–

''दादू माला तिलक सूं कुछ नहीं काहू सेती काम।
अंतरि मेरे एक है, अहि निसि उस का नाम।।''[8]

बाह्य आडंबरों और पाखंड के बजाय उन्होंने 'रहनी' और 'कथनी' अर्थात पांचों इंद्रियों के संयम और राम नाम में वृत्ति लगाने को महत्वपूर्ण मानते हुए इस पर जोर दिया।

दादू की कविताएं विविधता से पूर्ण हैं। उन्होंने निर्गुण भक्ति मार्ग के किसी एक पक्ष के बजाय उसकी संपूर्णता को ध्यान में रखकर अपने उपदेश दिए। निर्गुण भक्ति के तमाम अवयव उनकी बनियों में समाहित दिखाई पड़ते हैं। अपने विचारों और कविताओं के माध्यम से दादू ने एक ऐसे भक्ति मार्ग को सुदृढ़ किया जिसपर हिंदू और मुसलमान दोनों अपने संकीर्ण मर्यादाओं से ऊपर उठकर एक साथ चल सकें। दादू ने स्वयं को न हिंदू और न मुसलमान माना– ''दादू ना हम हिंदू होहिंगे, ना हम मुसलमान''[9] और अपने अनुयायियों को भी इस झमेले से दूर रहकर साहिब अर्थात् परमात्मा के प्रति समर्पित रहने का संदेश दिया। उनके विचार में साहिब अर्थात् परमात्मा के प्रेम और भक्ति में तल्लीन भक्त जातिवादी के बंधनों से परे होता है– ''दादू हिंदू तुरक ना होईबा, साहिब सेती काम।''[10] निर्गुण कवियों ने लोकरंजन की अपेक्षा लोकमंगल के लिए कविता की। यद्यपि निर्गुण संत निर्गुण निराकार परब्रह्म के नाम स्मरण को लक्ष्य बनाकर भक्ति मार्ग में प्रविष्ट हुए तथापि उन्होंने सांसारिक जीवन का निषेध नहीं किया। निर्गुण संतों ने जीवन से अलग भक्ति और साधना के बरक्स ठेठ संसार के बीच रहते हुए, अपने समस्त सांसारिक, सामाजिक और पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए अर्थात जीवन में कर्मरत रहकर भक्ति करने की पक्षधरता की। यही कारण है कि कबीर और दादू जैसे निर्गुण संत–कवियों की कविताई का लोक संस्कृति से गहरा संबंध है।

प्रत्येक सजग और प्रतिभावान कवि अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों और उनकी रचनाओं से प्रेरित और प्रभावित होता है। दादू की रचनाओं को पढ़ते हुए उनका कबीर से प्रभावित होना सहज अनुमान्य होता है। परंतु दादू की कविता कबीर की कविता की नकल नहीं है। दादू के व्यक्तित्व की सहजता, विनम्रता, क्षेत्रीय विशेषताएं आदि के कारण दादू की कविता एक ही पंथ और मत की परिधि में होने के बावजूद कबीर की कविताओं से भिन्न है। कबीर की कविताओं में एक प्रकार की आक्रामकता और तीव्रता दिखाई पड़ती है जबकि दादू की कविताओं में सजदा और नम्रता का भाव दिखाई पड़ता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर और दादू की कविता की तुलना करते हुए ठीक ही लिखा है कि ''दादू की उक्तियों में बहुत कुछ कबीरदास की छाया है, फिर भी वे वही नहीं थे, जो कबीरदास थें। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना संबंधी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखते हैं... कबीर की भांति दादू ने भी रूपकों का कहीं–कहीं आश्रय लिया है, पर अधिक नहीं; अधिकांश में उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ में आने लायक होती हैं।''[11] दादू ने जिनको लक्षित करके अपनी कविता रची, वे साधारण कोटी के अशिक्षित मनुष्य हैं। अनुभव के बल पर अपनी बात कहते हुए लोगों को समझाने के क्रम में दादू ने लोगों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए कबीर का भी जिक्र किया

''कबीर बिचारा कह गया बहुत भांति समझाइ।
दादू दुनिया बावरी ताके संगी न जाइ।।''[12]

दादू की कविता की भाषा सरल, बोधगम्य और मिश्रित है। उनकी कविता में पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी और ब्रजभाषा का मेल दिखाई पड़ता है। अरबी–फारसी के शब्द भी दादू की रचनाओं में मिलते हैं। दादू की भाषा में गज़ब का जोर है। और अपने स्वाभाविक वेग के कारण वह अत्यंत प्रभावजनक हुई है। दादू ने कुछ पद राजस्थानी, पंजाबी और गुजराती में भी कहे हैं। कबीर से अलग इन्होंने पूर्वी हिंदी का प्रयोग नहीं किया है। उक्ति–वैचित्र और उक्ति–चमत्कार दादू की वाणियों में अभाव रहा है। कई जगह पर दादू द्वारा किए गए प्रकृति चित्रण भी अद्‌भुत प्रतीत होते हैं। समग्र रूप से कहा जाए तो दादू की काव्य भाषा सरल, सहज और बोधगम्य होने के साथ–साथ जनता को आसानी से समझ में आ सकने वाली चमत्कार और आडंबर रहित भाषा थी, जिसने सामान्य जन के बीच अपनी व्यापक पैठ बनाई। नम्रता से मुलायम दादू के स्वभाव, उनके पवित्र विचार और उनकी सहज समझ आने वाली काव्य भाषा के कारण दादू के अनेक शिष्य और सम्मानदाता हुए, जिन्होंने आगे चलकर संत कवि दादूदयाल के विचारों और उनके पंथ को लंबे समय तक आगे बढ़ाया। स्पष्ट है कि दादूदयाल निर्गुण संत काव्य परंपरा के एक प्रमुख संत और कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने निर्गुण संत काव्य परंपरा के विकास और विस्तार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। एक तरफ जहां दादू की कविता तत्कालीन समय में सामान्य जनता को प्रत्येक

तरह की भिन्नता से परे सहज ग्राह्य भक्ति मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर रही थीं तो वहीं दूसरी तरफ इस मुश्किल समय में भी वह विश्व और मानवता को प्रेम और सद्भाव के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है। यह समय दादूदयाल जैसे निर्गुण संत कवियों की रचनाओं का पुनरावलोकन करने और वर्तमान व भावी पीढ़ी को उससे अवगत कराने का है। भारत की सांस्कृतिक विरासत की विशेषताओं की पुनर्व्याख्या के द्वारा दादूदयाल जैसे विशिष्ट संत–कवि के विचारों और कविताई का महत्व स्थापित होता है।

निष्कर्ष :– उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि संत कवि दादू दयाल सामाजिक समरसता के आकांक्षी और प्रेरक महत्वपूर्ण संत कवि थे। उन्होंने विभिन्न जातियों पंथ और संप्रदाय में बंटे भारतीय जनमानस को संगठित करने का प्रयास किया और सबके लिए एक सहज रूप से ग्रह्य भक्ति मार्ग की निर्मिती की। हिंदी संत काव्य परंपरा में दादू दयाल का स्थान विशिष्ट है। उनकी कविताई सहज, सर्वग्राह्य तथा सबके लिए समान और सुलभ भक्ति मार्ग का प्रवेश द्वार है। यही कारण है कि आगे चलकर दादू के अनुयायियों की एक लंबी श्रृंखला बनी और दादू पंथ के माध्यम से दादू दयाल के विचारों और उनकी कविताओं का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है।

सन्दर्भ–सूची :–

1. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, साहित्य सेवा प्रकाशन वाराणसी, छात्र संस्करण, पृ. 45।
2. वही,पृ. 56।
3. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, बारहवॉ संस्करण, जनवरी 2021, पृ. 96।
4. संदर्भ–1,पृ. 57।
5. डॉ. नगेंद्र, डॉ. हरदयाल (संपादक), हिंदी साहित्य का इतिहास,मयूर पेपरबैक्स, नोएडा,संस्करण 2013,पृ. 126।
6. पंडित चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी (संपादक), श्रीदादूबाणी, संत साहित्य अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1985, पृ. 74।
7. वही, पृ. 25।
8. वही, पृ. 213।
9. वही, पृ.239।
10. वही, पृ.238।
11. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृ.102।
12. संदर्भ–6, पृ. 209।

अमृतराय के उपन्यासों में मानवीय-संवेदना

आम्बरीन अरशद*

हिंदी कथा साहित्य में अमृत राय के अवदानों पर जब–जब चर्चा होगी तब–तब यह बात जरूर उभरकर सामने आयेगी कि कथाकार अमृत राय ने हिंदी कथा की परंपरा को विस्तृत करते हुए यह साबित किया है कि विचारधारा के बिना कथा साहित्य को समृद्ध करना कठिन रूप प्रदान करती है। विचारधारा के चलते यह स्पष्ट होता है कि सृजन कर्त्ता क्यों सृजन करता है? इस सवाल के बिना किसी रचना की व्याख्या करना मुश्किल है। यह निश्चित रूप से मानव–सभ्यता के इतिहास के गहन अध्ययन से जाहिर होता है कि किसी कथा की व्याख्या अनंत हो सकती है, उसके विविध आयाम सामने आ सकते हैं। कथा की विशेषता इसी में निहित है कि किसी एक कथा की व्याख्या कितने कोनों से की जा सकती है।

कथा की समृद्ध परंपरा को महान कथाकार प्रेमचंद ने एक नया रूप प्रदान किया। इस रूप की चर्चा करते हुए हिंदी साहित्य के विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि प्रेमचंद ने हिंदी कथा को वास्तविकता का जामा पहनाया। विचारधारा के चलते ही यह वास्तविकता सामने आयी है। इससे यह ज्ञात होता कि उस लेखक की प्रतिबद्धता क्या है और इस प्रतिबद्धता से पूरे समाज की विकासधारा पर क्या प्रभाव पड़ता है? इन दोनों सवालों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी रचना समाज की होती है और लेखक लिखता है पर वह अचानक नहीं लिखता है। सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन के बिना समाज के उतार–चढ़ाव को समझना भी कठिन होता है और सामाजिक आलोड़न को समझने के लिए विचारधारा तक पहुंचना जरूरी हो जाता है। सृजनकर्त्ता द्वारा जब–जब लेखन में विचारधारा का प्रयोग होता है, तब–तब उस लेखन का अधिष्ठान भी स्पष्ट होता है।

अमृत राय की वैचारिक पृष्ठभूमि अत्यंत सघन और ऊर्वर है। उनके उपन्यासों का फलक विस्तृत है। आखिर क्या कारण है कि उनके उपन्यासों का फलक इतना व्यापक है; यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए, तो स्पष्ट होगा कि अमृत राय को सिर्फ कथाकार की संज्ञा देने से उनका सही सम्मान नहीं होता है; क्योंकि अमृत राय एक महान विचारक हैं। यदि इस विषय की गंभीरता पर ध्यान दिया जाए, तो स्पष्ट होगा कि अमृत राय अनुवादक हैं, अमृत राय संपादक हैं और क्या नहीं हैं, इसलिए अमृत राय के लेखन–कार्यों को प्रस्तुत करने से पहले यह समझना कि आखिर अमृत राय क्या–क्या है, यह जानना जरूरी है...। अमृत राय की प्रमुख रचनाएं हैं– 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा', 'सुबह का रंग', 'लाल धरती', 'नई समीक्षा', 'नागफनी का देश', 'हाथी के दांत', 'अग्निशिखा', 'फांसी के त ख्ते से', 'कस्बे का एक दिन', 'गिली मिट्टी', 'जंगले', 'सहचिंतन', 'भटियाली', आधुनिक भावबोध की संज्ञा', 'बतरस', 'चतुरंग' 'सारंग', 'धुआं', 'बीज', 'तिरंगा कफ़न', कलम का सिपाही', 'स्पार्टाकस' का अनुवाद 'आदिविद्रोही', 'हैमलेट' का अनुवाद 'समरगाथा' 'हाउ द स्टील वाज टेंपर्ड' अनुवाद 'अग्निदीक्षा'। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'हंस' और 'नई कहानी' जैसी पत्रिकाओं का संपादन किया। रचनात्मक क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले अमृत राय ने हिंदी–बांग्ला और उर्दू के बीच एक सेतु का काम संपन्न किया था।

प्रेमचंद की इच्छा थी कि हिंदी–उर्दू और बांग्ला के बीच एक सेतु का निर्माण हो और उस महान पिता की इच्छाओं को कथाकार–उपन्यासकार अमृत राय ने पूरा किया। इस पर विचार करना अपेक्षित है, क्योंकि इस देश में इन तीन भाषाओं में रचित रचनाओं का विशेष महत्व है। अमृत राय हिंदी–उर्दू और बांग्ला जैसी भाषाओं के प्रसिद्ध विशेषज्ञ थे। उन्होंने कई महत्वपूर्ण कृतियों का अनुवाद किया है तथा उनके द्वारा अनूदित कृतियों को पाठकों ने सराहा है। अमृत राय ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासों का भी हिंदी में अनुवाद किया है। इस अनुवाद कार्यों के जरिये अमृत राय ने हिंदी भाषा की कृतियों को विश्वमंच पर उपस्थित करने का प्रयास किया है तथा विश्व–मंच पर स्थापित कथा साहित्य से हिंदी साहित्य को अनुवाद के जरिये यह स्थापित करने की भी कोशिश की है कि अनुवाद के जरिये हिंदी साहित्य को समृद्ध करना अत्यंत जरूरी कार्य है। जब कोई रचनाकार अनुवाद के जरिये साहित्य–भंडार को समृद्ध करने का प्रयास करता है, तब उसके इस कार्य में वैचारिक प्रतिबद्धता भी झलकती है, जैसाकि 'आदि विद्रोही' और 'अग्निदीक्षा', नामक उपन्यासों के जरिये हिंदी साहित्य के पाठक परिचित होते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि अमृत राय अनुवादक भी थे। एक संपादक जब अनुवादक की भूमिका में होता है, तब उसे अपनी रचनात्मक गति का पता चलता है तथा विश्व मंच पर प्रतिष्ठित रचनाओं

*** शोधार्थी, हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।**

के साथ सामांजस्य बैठाने का कार्य भी संपादित होता है। अमृत राय ने बर्टोल्ट ब्रेख्त और शेक्सपियर की रचनाओं को भी हिंदी भाषा में प्रस्तुत करते हुए हिंदी और अंग्रेजी भाषाओं के रचनात्मक संबंध को मजबूत करने का प्रयास किया।

जग–जाहिर है कि अमृत राय ने 7 उपन्यास, 12 कहानी संग्रह और 5 आलोचना ग्रंथ लिखे। इन रचनाओं ने हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। उन्होंने प्रेमचंद की जीवनी को ''कलम का सिपाही'' जैसे प्रसिद्ध ग्रंथ में कलमबंद करते हुए यह सिद्ध किया कि जीवनी साहित्य किस तरह से प्रस्तुत किया जा सकता है; इस जीवनी साहित्य में भी उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता नजर आती है, तभी तो इस महान कृति का प्रभाव हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के पाठकों पर सदा अक्षुण्ण है। उनकी रचनाशीलता की महानता तब और खिल उठती है, जब उन्होंने इस दुनिया को हिंदी और उर्दू भाषाओं के संबंध में एक पुस्तक दी, जिसका शीर्षक है– ''A House Divided''। उन्होंने एक संस्मरण और एक यात्रा वृतांत भी लिखे। उन्होंने मौलिक रचनाओं के साथ–साथ ऐसी कई रचनाओं से हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के पाठकोन से परिचित किया, जो अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य है। और यही कारण है कि उन्होंने 'बीज' और 'धुआं' जैसे उपन्यासों को प्रस्तुत किया। लगातार रचनात्मक कार्यों को अंजाम देते हुए उन्होंने यह प्रमाणित किया कि विदेशी कहानियों के जरिये भी समाज की संगतियों–विसंगतियों को पहचाना जा सकता है। इस बारे में यह लिखना आवश्यक है कि अमृत राय ने 1939 से लेकर 1947 के बीच 13 विदेशी कहानियों का हिंदी अनुवाद किया। इस अनुवाद ने उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता को जिस तरह आधार प्रदान किया, ठीक उसी तरह इस अनुवाद ने उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि की बुनावट को सघन किया। जिन विदेशी कहानियों को उन्होंने हिंदी में अनूदित किया, वे सभी कहानियां चीनी, रसियन, फ्रेंस, जर्मनी, अंग्रेजी भाषा से संचीत विशिष्ट कहानियां है। इन कहानियों को ''नूतन आलोक'' कहानी संग्रह के नाम से प्रकाशित किया गया।

यह संग्रह 'हंस' प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा 1947के फरवरी महीने में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में उनकी एक महत्वपूर्ण टिप्पणी लिखी है। यह लम्बी टिप्पणी है। इस टिप्पणी में उनकी यह चिंता झलकती है कि हिटलर के अंत होने मात्र से फासिज्म का अंत नहीं हो जाता है, जैसा कि उन्होंने इस टिप्पणी में लिखा है– ''... हिटलर का अंत हो जाने पर भी फासिज्म का अंत नहीं हुआ है। ऐसी दशा में जनता का फासिज्म विरोधी संग्राम न रूका है और न रूक सकता है कि जर्मनी में और दूसरी जगहों पर फासिज्म को फिर से जिलाने के लिए ब्रिटिश और अमेरिकन साम्राज्य की ओर से अन्तरराष्ट्रीय षडयंत्रों का जाल बिछाया जा रहा है; जिन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में फासिज्म का जन्म होता है वह काफी हद तक अब भी वर्तमान हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इन कहानियों की रचना के मूल में अगर किसी तात्कालिक आवश्यकता की प्रेरणा थी तो वह तात्कालिक आवश्यकता आज भी है। अंतर केवल इतना है कि राक्षस का चोला दूसरा है और वह कुछ भिन्न रूप धर कर आया है।''[1]

अमृत राय महत्वपूर्ण लेखक हैं, इसलिए कि उन्हें यह पता है कि समाज और समय को किस तरह से फासीवाद निगलने के लिए तैयार है। फासीवाद के उत्थान और उसके पतन पर उनकी निगाह ही नहीं गयी बल्कि रचनात्मक धरातल पर उन्होंने यह सिद्ध किया कि किस तरह से बौद्धिकता को गुलाम बनाने की कोशिश की जाती है। बौद्धिकता भी मुंह की खाती है, यदि सही समय पर सही हस्तक्षेप नहीं हुआ। लेखक को यही समझने की जरूरत पड़ती है कि कब किसने दूसरा चोला पहन लिया। आखिर दूसरे चोले पहनने के पीछे कौन–सा स्वार्थ काम करता है, इसकी जांच सिर्फ लेखक ही करता है तथा उसकी अंतिम परिणति तक पहुंचने की जद्दोजहद रचनाशीलता में नजर आनी चाहिए, जैसा कि अमृत राय की कीर्तियों में नजर आती है।

अमृत राय की सृजनात्मक अवदान पर टिप्पणी करते हुए आलोचक गजेंद्र पाठक ने 'लमही' पत्रिका के अमृत राय पर केंद्रित विशेषांक में ''अ हाउस डिवाइडेड'' पुस्तक का विवेचन करते हुए लिखा है– ''यह किताब हिंदी और उर्दू के बंटे हुए घर की टीस से पैदा हुई अमृत राय की बेचैनी की सर्जनात्मक निष्पति है। हिंदी और उर्दू का घर उन्हें अपनी जाति की विरासत की वजह से प्राप्त हुआ हो या नहीं लेकिन इसमेन कोई संदेह नहीं कि यह घर उनकी पैतृक विरासत से जुड़ा हुआ है। प्रेमचंद हिंदी और उर्दू दोनों की उपलब्धि हैं। अमृत राय हिंदुस्तान की भाषिक रवायत की उस खूब सूरती में अपने पिता के योगदान से बेखबर नहीं थे। जिस घर को सुंदर बनाने में प्रेमचंद जैसा पिता का योगदान हो उस घर के बंटने पर अमृत राय इस किताब के जरिये अपने मानसिकता हाहाकार को अभिव्यक्त करते हैं।''[2] आखिर ऐसी परिस्थिति क्यों पैदा होती है, इस तरफ अमृत राय ने बखूबी आम लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। अमृत राय ने लेखकीय बोध को स्पष्ट करते हुए यह बताने की कोशिश की है कि पैतृक विरासत की महत्ता को स्वीकार करने से ही संघर्ष की परिधि को बढ़ाया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि 'लमही' पत्रिका का यह अंक जो अमृत राय पर केंद्रित है, वह अंक दरअसल उनकी

जन्मशती के मौके पर प्रकाशित हुआ है। इस 'लमही' पत्रिका के जुलाई–सितंबर, 2021 अंक में प्रकाशित कई आलेख महत्त्वपूर्ण है।

हिंदी कथाकारों में महत्त्वपूर्ण लेखकों में अमृत राय अन्यतम कथा शिल्पी हैं, जिन्होंने प्रतिवाद–प्रतिरोध का रास्ता अख्तियार किया है। दरअसल अमृत राय ने अपनी पीढ़ी के लेखकों को ढाला भी है। इस बारे में हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार तथा 'हंस' पत्रिका के संपादक राजेन्द्र यादव ने 14 अगस्त 1996 को अमृत राय के निधन पर 'हंस' सितंबर 1996अंक में लिखा है कि ...अमृत हमारी पीढ़ी की सोच और समझ को ढालने वाले प्रारंभिक प्रशिक्षक भी रहे हैं। कहानियों से ही नहीं उन्होंने राम विलाश शर्मा की कट्टरता के विरुद्ध प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं, साहित्य का संयुक्त मोर्चा जैसी लेखमालाओं से अधिक उदार और सर्जनात्मक वातावरण दिया। उनका गद्य विलक्षण रूप से प्रभावशाली है। वे बेहद उदार और संवेदनशील संपादक थे। उन्होंने पहले 'हंस' और फिर 'नई कहानियां' मिलाकर लगभग पंद्रह वर्ष के संपादन काल में न जाने कितनी नयी प्रतिभाओं का प्रोत्साहन–परिचय दिया।"[3]

इस तरह यह कहा जा सकता है कि अमृत राय ने अपने समय में उन सभी रचनाकारों को एकत्रित और संवर्धित करने का प्रयास किया, जिन रचनाकारों ने अमृत राय के संघर्ष को आगे बढ़ाया। इस बारे में यह भी उल्लेख करना है कि अमृत राय का संबंध अपने समय के महत्त्वपूर्ण लेखकों से भी रहा। जीवनीकार रणजीत साहा ने 'लमही' के इसी अंक में लिखा है कि ...इन तीनों (सुभाषा–सत्यजित–अमृत) महारथियों के रचनात्मक क्षेत्र अलग–अलग रहे लेकिन तीनों ही अपनी युगीन आकांक्षों को अपने भावादर्शों के अनुरुप संबोधित करते रहे। कहना न होगा, जिनकी याद हमेशा हरी रहेगी, अमृत जी ने अमृतलाल नागर, कृशन चन्दर, जैनेंद्र कुमार, निराला, प्रेमचंद, फादर कामिल बुल्के मकबूल फिदा हुसेन, महादेवी, रांगेय राघव, राधाकृष्ण, राहुल सांकृत्यायन और सुहैल अजीमाबादी को बड़ी शिद्दत से याद किया है और उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं को अपने निकष और अनुवभ के आधार पर देखा, परखा और संजोया है। सुभाषा मुखोपाध्याय के लिए वह शीर्षक में 'बक्सा मेन एक शेर के नाम' और सत्यजित के साथ 'महान कलाकार, महान आदमी' जोड़ते हैं। अमृत राय ने अपने संस्मरणों में इन सबके बारे में कुछ–न–कुछ ऐसा अवश्य बताया है, जिससे उनके व्यक्तित्व का अज्ञात पक्ष या अनजाना पहलू उजागर हो जाता है।"[4]

अमृत राय ने यह स्वीकार किया है कि संस्कृति को बचाना आवश्यक है। संस्कृति पर फासीवाद सबसे पहले हमला करता है। इस संदर्भ में हिंदी साहित्य के आलोचक सियाराम शर्मा ने 'लमही' पत्रिका के अमृत राय पर केंद्रित अंक में लिखा है– "किसी लेखक या आलोचक का अपने युग के ज्वलंत सवालों से टकराना ही उसकी उत्तरजीविता का सबसे बड़ा प्रमाण है। अपने युग के सवालों और चुनौतियों से बचकर कोई भी लेखक बड़ा नहीं बन सकता। अमृत राय अपने समस्त लेखन में अपने समय के सवालों से जूझते और टकराते दिखाई पड़ते हैं। आज विश्व स्तर पर पूंजीवाद की गतिरुद्धता के कारण फासीवाद की प्रवृत्तियां पुनः सिर उठा रही हैं।" अमृत राय की इन पंक्तियों की प्रासंगिकता सर्वविदित है। इसी आलेख में उन्होंने लिखा है– "आज जब फासीवादी हमलों से हमारे देश का ताना–बाना बिखर रहा है, ऐसे में तत्कालीन फासीवाद के विरुद्ध अमृत राय का संघर्ष हमें शक्ति देता है। वे स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि 'फासिज्म पूंजीवाद की सबसे स्पष्ट और खूंखार शक्ल है'। देश में वर्ग चेतना पैदा न हो और जनता वास्तविकता से दूर रहे इसलिए वह अपने प्रोपेगैंडा की मशीनरी से जनता के समक्ष झूठ, फरेब और धोखे की टट्टी खड़ी किये रही है। फासिस्ट सरकारें अपने भीतर के सड़ते घावों पर पर्दा डालने के लिए झूठ और फरेब की चादरें बुनती हैं। सुसंस्कृत मनुष्य परतंत्र नहीं हो सकता और फासिज्म मनुष्य को परतंत्र बनाने का इच्छु है। अतः वह सबसे पहले संस्कृति पर हमला करता है।"[5]

अमृत राय की प्रासंगिकता शाश्वत है, क्योंकि उन्होंने जीवन और जगत के मूलभूत सवालों को न केवल उठाया है बल्कि उन सवालों की तह–दर–तह प्रविष्ट करने की कोशिश करते हुए अपने व्यक्तित्व के जरिये यह साबित किया है कि चाहे जैसे भी सवाल हों, उन सवालों के जवाब ढूंढना कठिन नहीं है। मानव सभ्यता अपने अनुभवों के आधार पर जरूर कुछ सीखता है और जो सीखता है; वही उसका संबल है। इसी संबल की बदौलत अमृत राय की रचनाओं का अध्ययन संभव है।

अमृत राय ने 125 कहानियां लिखी हैं, जिन कहानियों को 12 कहानी–संग्रह में संकलित किया गया है। उनका पहला कहानी संग्रह 1945 में प्रकाशित हुआ था। सन् 1945 से लेकर 1977के बीच उनके 12 कहानी संग्रह प्रकाशित हुए।

अमृत राय के उपन्यासों पर विस्तार से चर्चा करना अपेक्षित है। उन्होंने सात उपन्यास लिखे। उनका प्रथम उपन्यास 'बीज' है, जिसका प्रकाशन सन् 1952 में हुआ था। इस उपन्यास का चित्रण अत्यंत प्रभावी है। उन्होंने इस उपन्यास में सिद्धांत बघारने की चेष्टा नहीं की है। इस उपन्यास पर राहुल सांस्कृत्यायन ने टिप्पणी करते हुए लिखा है– ''एक कलाकृति और हमारे सामाजिक जीवन के विकृत रूपाकार का यथार्थ चित्रण है।'' इसके बाद उनका दूसरा उपन्यास सन् 1969 में प्रकाशित हुआ, जिसका नाम 'सुख–दुःख' है। इस उपन्यास में व्यक्तिगत क्षति की करुण–कथा है। इसमें एक दिवंगत युवा पुत्र की स्मृतियां हैं। इस उपन्यास में अतीत और वर्तमान घुल–मिल गये हैं। सच्चाई और तात्कालिकता की दृष्टि से यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। इस उपन्यास के प्रकाशित होने से पहले अमृत राय के एक अठारह वर्षीय बेटे की मृत्यु हो गयी थी। 'भटियाली' उपन्यास में प्रेम त्रिकोण का चित्रण है। 'जंगल' उनका प्रसिद्ध उपन्यास है। इस उपन्यास में जंगल के नियम–कानून लागू होते हैं। 'नागफनी का देश' उपन्यास 1953 में प्रकाशित हुआ। इसमें वैवाहिक संबंध और प्रेम–त्रिकोण का चित्रण प्रस्तुत है। 1956 में 'हाथी के दांत' उपन्यास प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में देश की गरीब जनता की विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया गया है। 1977 में उनका उपन्यास 'धुआं' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में समाज के विविध स्तरों की समस्याओं को रेखांकित किया गया है।

अमृत राय के व्यक्तित्व और कृतित्त्व पर प्रकाश डालते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बिल्कुल ठीक मंतव्य किया है, जिसका उल्लेख करना जरूरी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– ''जो बात आद्योपांत उनमें एक समान रूप से पिरोयी हुई है, वह है एक ऐसा सहज व्यक्तित्व, जो सिद्धांतों और वादों के बोझ से दबा नहीं है, पर साथ ही सिद्धांतों और वादों का जानकार हैं। सामाजिक मंगल बुद्धि ही उसका प्रकाश भी है, अंकुश भी है, लक्ष्य भी है। मैं साहित्यकार से जिस स्वतंत्र चिंतन की आशा करता हूँ, वह उनकी सहज जीवंत भाषा में मिल रहा है। ये पाण्डित्य के बोझ से भारी नहीं, स्वानुभूति के रसायन से स्वस्थ है। क्या कमाल की सहज धारा है उनमें।'' हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह पंक्तियां 28 अप्रैल 1989 में साहित्य अकादेमी और इंडिया इंटरनेशनल सेंटर द्वारा आयोजित लेखक से भेंट कार्यक्रम के मौके पर प्रकाशित पम्पलेट में देखने को मिलीं।इस तरह स्पष्ट होता है कि अमृत राय एक महान उपन्यासकार है, जिन्होंने वैचारिक दृष्टिकोण के आधार पर हिंदी कथा साहित्य को समृद्ध किया है। इसलिए उनके उपन्यासों की वैचारिक पृष्ठभूमि की पड़ताल जरूरी है। उनके पात्रों ने पूरी सच्चाई के साथ तात्कालिकता का जिक्र किया है। कथा शिल्प की दृष्टि से उनके पात्रों के बीच संवाद का रसायन कभी व्यंग्यात्मक बन जाता है, तो कभी आलोचनात्मक।वैचारिक पृष्ठभूमि के आधार पर ही 'बीज', 'धुआं' सहित अमृत राय के सात उपन्यासों के कलेवर निर्मित हो पाये हैं, जिन सातों उपन्यासों में वैचारिक प्रतिबद्धता की अनुगूंज सुनाई पड़ती है, जिसकी पृष्ठभूमि ही अमृत राय के रचनात्मक संघर्ष की संचालिका शक्ति है।

संदर्भ–सूची :–

1. राय अमृत, भूमिका 'नूतन कहानी', हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1947, पृष्ठ– 7।
2. पाठक गजेंद्र, 'अमृत राय का दोआबा', 'लमही', सं. राय ऋत्विक, जुलाई–सितंबर 2021, लखनऊ, पृष्ठ–251।
3. यादव राजेन्द्र, ' अमृत राय' हंस, नयी दिल्ली, 1996, पृष्ठ–8।
4. साहा रणजीत, ''सुभाष–सत्यजीत–अमृत : जन्मशती त्रयी'', 'लमही', सं. राय ऋत्विक, जुलाई–सितंबर 2021, लखनऊ, पृष्ठ–63।
5. शर्मा सियाराम, 'अमृत राय : विचार और आलोचना' 'लमही', सं. रायऋत्विक, जुलाई–सितंबर 2021, लखनऊ, पृष्ठ–181।

विभाजन केंद्रित प्रमुख हिंदी उपन्यास : विस्थापन की समस्याएँ

फातिमा कनीज़*

मानव जीवन का आलोकपात किया जाए तो स्पष्ट होगा कि मानव जीवन विभिन्न समस्याओं से घिरा होता है। लगातार संघर्ष के जरिये मानव–जीवन को समस्याओं से बाहर निकलने का रास्ता मिलता है और इस रास्ते की सच्ची अभिव्यक्ति सही रूप में कहीं देखने को मिलती है तो वह साहित्य ही है। साहित्य में अनेकानेक विधाएं हैं। हजारों–हजार संवेदनाओं, अनुभूतियों और अनुभवों के ताने–बाने से साहित्यिक कृतियों का अधिष्ठान निर्मित होता है और इस निर्मित अधिष्ठानों पर असंख्य घटनाओं का निरूपण होता है। अनेकों चरित्र के सुख–दुःख का विवरण देखने को मिलता है। साहित्य की हर विधा इसी तरह के मुख्य स्वरों को लेकर प्रस्तुत होती है और मानव–जीवन उन मुक्त स्वरों से अपना स्वर एकाकार करते हुए विकल्प की तलाश करता है और जब विकल्प की तलाश करने की बात उठती है, तब समस्याओं का जिक्र होना स्वाभाविक बन पाता है। पीड़ाओं की व्यथा सुनने के लिए कान लगाना पड़ता है। आधुनिक युग में यह प्रक्रिया तेज हो गयी है, जीवन कठिन बन गया है। मुख्य धारा से हटकर दाएं–बाएं होते हुए तात्कालिक समाधान खोजने का प्रयास किया जाता है किंतु जीवन में कुछ ऐसी समस्याएं उठती हैं, जिन समस्याओं का निदान तात्कालिक संभव नहीं है। उदाहरण के तौर पर विस्थापन की समस्याओं को देखा जा सकता है। विस्थापन की समस्याएं दुनिया भर में है और इन समस्याओं का जिक्र करें तो स्पष्ट होगा कि एक तरह से मानव–जीवन के साथ ही यह समस्या भी उत्पन्न होती है। विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से इन समस्याओं का विवरण भी प्रस्तुत किया है, किंतु उपन्यासों में इसका जिक्र बड़ी गंभीरता के साथ किया गया है। उपन्यासों के अतिरिक्त कविता, कहानी सहित अन्य साहित्यिक विधाओं में विस्थापन की समस्याओं को किसी न किसी रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है।

हिंदी उपन्यासों में 'झूठा–सच', 'आधा–गाँव', 'तमस', 'कितने पाकिस्तान', 'लौटे हुए मुसाफिर', 'काले–कोस', 'जुलूस' महत्त्वपूर्ण है। इन सातों उपन्यासों में देश के बंटवारे होने से मानव–समाज के सामने इंसानियत की समस्या खड़ी हुई, अस्तित्व का संकट दिखा। गांव से गांव जाने की समस्या, शहर से शहर की ओर जाने की समस्या, गांव से शहर की ओर जाने की समस्या भयावह से भयावहतर बन गयी। इंसान इंसान से डरने लगा। न जाने दो इंसानों के बीच में कितनी दीवारें उठ खड़ी हुईं। पहचान का संकट खड़ा हुआ ही लेकिन पहचान खुद समस्या बन गयी। हिंदुओं के बीच मुसलमान होने की पहचान और मुसलमानों के बीच हिंदू होने की पहचान खतरनाक बन गयी। ऐसी स्थिति में सही रास्ते की तलाश न केवल काल्पनिक दुनिया में बल्कि हकीकत की दुनिया में यदि किसी ने कोशिश की तो कोई और नहीं उपन्यासकार ही हैं। यशपाल, भीष्म साहनी, राही मासूम रज़ा, कमलेश्वर, बलवंत सिंह, फणीश्वरनाथ रेणु महान उपन्यासकार हैं, जिन्होंने विभाजन होने के चलते विस्थापन होने की समस्याओं को रेखांकित किया है, उन समस्याओं के स्रोतों का विवेचन किया है। विस्थापन की समस्याओं के अंतर्गत अपने जन्म–स्थान के भूलने का दर्द, नये स्थान पर स्थापित होने की चुनौती, साथ में बाल–बच्चों के भविष्य बनने की समस्या, रोजगार पाने की समस्या– ऐसा लगता है कि एक जीवन छटपटा रहा है और इस छटपटाते जीवन को देखने वाला कोई नहीं है।

यह सच है कि यह समस्या न केवल भारत बल्कि अन्य देशों में भी विस्थापन की समस्या देखने को मिलती है। विस्थापन की समस्याओं के विशेषज्ञों ने यह बताया है कि प्राकृतिक आपदाएं, जैसे– भूकंप, जल पलावन, अतिवृष्टि, खनन, औद्योगिकीकण इत्यादि के कारण विस्थापन की समस्याएं दिखती है, इसलिए कि विभाजन के साथ–साथ सांप्रदायिक उकसावें, सांप्रदायिक दंगे, सांप्रदायिक तनाव, सांप्रदायिक प्रतिस्पर्धा की वजह से विस्थापन की समस्याएं अनेक रूपों में हमारे सामने में उपस्थित होने लगी है। इन उपन्यासकारों ने अपने–अपने उपन्यासों में बड़ी सहजता के साथ सच्चाइयों को अपनी आंखों से देखा है,

---

*** शोधार्थी, हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।**

एक तरह से मानव–जीवन के दर्द को विश्व मानव के पास सम्मुखिन करने का प्रयास किया है, विभाजन केंद्रित हिंदी उपन्यास महत्त्वपूर्ण है और इस कारण कि देश के विभाजन होने से विस्थापन की समस्याएं उत्पन्न हुई।

विभाजन ने विस्थापन जैसी दुखदायी समस्या को जन्म दिया। एक करोड़ से अधिक लोग अपनी जमीन से अलग हो गए। हिंदू–मुसलमान–सिखों को अपनी–अपनी जन्मभूमि छोड़कर जाने के लिए मजबूर होना पड़ा। विभाजन के बाद विस्थापितों के लिए भारत और पाकिस्तान सरकार ने कोई समुचित व्यवस्था नहीं की, जिसकी वजह से स्थितियां और भी गंभीर और भयावह होती गई। जनसंख्या की अदला–बदली में लाखों लोगों को असहनीय यातनाओं को भोगना पड़ा। विस्थापित की मानवीय समस्या अर्थात् घर–परिवार से लोगों का मिलना–बिछुड़ना, हत्या, बलात्कार, आगजनी जैसी त्रासदी के अलावा एक भौतिक पक्ष भी था, वह उनकी आर्थिक हानि और पुर्नवास की समस्या।

विभाजन केवल एक देश का ही विभाजन नहीं था, बल्कि यह दिलों का विभाजन था। मानवीय जीवन का विभाजन था, परिवारों का विभाजन था। ''...विभाजन ने एक करोड़ लोगों को जड़मूल से उखाड़ दिया। उन्होंने पंजाब की सड़कों और रेलमार्गों से या सूने पड़े खेतों के बीच से मानव इतिहास की सबसे बड़ी देशांतर यात्रा की।... आक्रमणकारी टुकड़ियों, भूख, प्यास, गर्मी, थकान और आशंका ने हजारों–हजार लोगों को बीच राह में ही खत्म कर दिया। जो खत्म न हुए, वे उन वीभत्स, शरणार्थी शिविरों में पहुंचे, जहां कालरा जैसी बीमारियां उन्हीं का इंतजार कर रही थीं। ऐसे अभागे लोगों ने आजादी को साक्षात् नर्क के अनुभव के रूप में याद रखा।''[1]

विभाजन से सामाजिक व्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हुई और बदल गई, तो साहित्य भी इससे कैसे अछूता रह सकता था। विभाजन की पीड़ा को जिस समाज ने भोगा है, उसकी अनुभूतियों को, एहसासों और सच्चाइयों को दूसरे तक पहुंचाने की जिम्मेदारी साहित्यकारों ने अपने ऊपर ली। परिणामस्वरूप हिंदी में भी कई उपन्यास लिखे गये जो विभाजन के बाद की स्थितियों–सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक को दर्शाने में सफल हुए हैं।

विस्थापन अनादिकाल से चली आ रही प्रक्रिया है, इतिहास इसका गवाह है, कि लोग नए देशों की खोज, एक देश से दूसरे देश की ओर गमन, आर्थिक विकास के किए गए प्रवजन और राजनीति संघर्षों से हुए पलायन आदि को हम विस्थापन के रूप में दज कर सकते हैं। क्योंकि विस्थापन की अभी तक कोई ठोस अवधारणा विकसित नहीं हो पाई है। ''अथवा विस्थापन की सटीक परिभाषा मानी जाए ''विस्थापन का अर्थ होता है, अपने घर से उजाड़ दिया जाना और घर का अर्थ सिर्फ मिट्टी–गारे की दीवारें नहीं होती। घर का अर्थ होता है, सुरक्षा का वह एहसास, जो हमें जानवर से इंसान बनाता है। घर का अर्थ होता है, अपने पूर्वजों की स्मृतियों जिनके साथ और जिनके स्नेह की छाया उनसे छीन ली गई।''[2]

विस्थापन का जो दूसरा बड़ा उदाहरण है, वह भारत विभाजन के संदर्भ में है। यह भारत ही नहीं वरन् विश्व इतिहास की एक त्रासद घटना रही है। भारत विभाजन के दौरान एक बड़ी संख्या में लोगों की अदला–बदली हुई। विस्थापन को इससे बड़ा उदाहरण विश्व के अन्य किसी देश में देखा नहीं जा सकता। इस विस्थापन के पीछे राजनैतिक शक्तियां कार्यरत थीं। भीषण सांप्रदायिक दंगे और धर्मोन्माद के कारण जनसंख्या का स्थानांतरण हुआ। इस तथ्य को इतिहास में जाकर देखा जा सकता है, लेकिन उसके भयावह परिणाम आज भी कई लोगों को भुगतने पड़ रहे हैं।

विभाजन केंद्रित उपन्यासों में सिर्फ विभाजन के कारण मात्र की चर्चा नहीं है, बल्कि विभाजन के बाद विस्थापन और पुर्नवास की गंभीर समस्या को भी उठाया गया है। हरियश ने लिखा है– ''ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने देशों की आजादी तो दी, लेकिन दो भागों में बांट दिया... जातीय और धार्मिक आधार पर देश के विभाजन ने अनेक आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया, जिससे पश्चिमी व पंजाबी का आर्थिक ढांचा काफी प्रभावित हुआ।''[3]

विभाजन की सबसे बड़ी त्रासदी विस्थापन के रूप में हुई। विस्थापन से सबसे ज्यादा दुर्गति स्त्रियों की हुई। विभाजन ने जिस त्रासदी को जन्म दिया, वह साहित्यकारों के लिए असह्य था। विभाजन की सबसे

क्रूर त्रासदी स्त्री समुदाय को भोगनी पड़ी। मानसिक और शारीरिक दोनों स्तरों पर यह त्रासदी अधिक तीव्र थी। तारा, बंती, उर्मिला, कनक, शीलो ये तमाम पात्र अलग–अलग आयामों पर स्त्री पर हुए अत्याचरों की कहानी को अलग–अलग संदर्भों में प्रस्तुत करते हैं। विभाजन से प्रभावित ये तमाम स्त्री–चरित्र विषम परिस्थितियों से जूझती, संघर्ष करती हुई अपने व्यक्तित्व की तलाश करती हैं।

विस्थापन केवल भारत की ही नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर जटिल समस्या बन गई है। विस्थापन के विविध कारण व विविध रूप है, लेकिन विस्थापित समूहों के समक्ष उपस्थित संकट लगभग एक समान है। पुर्नवास की समस्या, रोजगार, अस्तित्व, रहन–सहन, सांस्कृतिक पहचान इन जैसी अनेक समस्याओं का विस्थापितों को सामना करना पड़ता है।

विभाजन और विस्थापन भारतीय इतिहास में सदैव के लिए दर्ज एक काला अध्याय है। समय के साथ लोग विभाजन को भूल गए, लेकिन विस्थापन का दर्द सदैव बना रहा, कयोंकि विभाजन तो इतिहास की एक तिथि पर समाप्त हो जाने वाली घटना थी, लेकिन विस्थापन एक अनवरत प्रक्रिया के रूप में आज भी विद्यमान है।

संदर्भ–सूची :–

1. अनु. चौहान मनहर, लैरी कॉलिन्स और डोमेनिक लापियर, फ्रीडम एक मिडनाइट का अनुवाद – आधी रात की आजादी, जैन बुक एजेंसी, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ–209–210।
2. कुमार विनोद, आदिवासी संघर्ष गाथा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2011, कानपुर, पृष्ठ–77–78।
3. हरियश, भारत विभाजन और हिंदी उपन्यास, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 1986, पृष्ठ–144।

☙★❧

अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी का निर्माण एवं प्रमापीकरण

रुषाली गुप्ता*

डॉ. छाया सोनी**

सारांश : प्रस्तुत शोध लेख में शोधकर्त्री द्वारा स्वनिर्मित शोध उपकरण अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी को विकसित व प्रमापीकृत करने की प्रक्रिया को बताया गया है। सर्वप्रथम दो आयामों के अंतर्गत अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्याओं पर पदों का निर्माण किया गया। 22 पदों को संशोधित किया गया और सावधानीपूर्वक संपादित किया गया। मापनी की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए विषय विशेषज्ञों को उनके मूल्यवान सुझावों और सुधार के लिए दिया गया। पूर्व परीक्षण के लिए 19 प्रश्नों को ही उपकरण में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार उपकरण की विषयवस्तु वैधता स्थापित की गई। फिर चयनित प्रतिदर्श पर उपकरण को प्रशासित किया गया। प्रतिदर्श के चयन के लिए सरल यादृच्छिक प्रतिदर्शन विधि अपनायी गयी। जिसमें वाराणसी जनपद के विश्वविद्यालयों (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं महात्मा गाँधी कशी विद्यापीठ) में अध्ययनरत स्नातक प्रथम वर्ष के 100 विद्यार्थियों का चयन किया गया। पद विश्लेषण के अंतर्गत 22 प्रश्नों की गणना करने के लिए मध्यमान और मानक विचलन का विश्लेषण किया गया। सांख्यिकी विश्लेषण के परिणामों के आधार पर 3 प्रश्न हटा दिए गए और 19 प्रश्नों को ही मापनी की अंतिम सूची के लिए चुना गया। उपकरण की विश्वसनीयता स्थापित करने के लिए टेस्ट–रीटेस्ट एवं क्रोनबैक अल्फा विधि का प्रयोग किया गया, जो क्रमशः 0.71 एवं 0.81 पायी गई।

मुख्य बिंदु – अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी, प्रमापीकरण।

प्रस्तावना : शिक्षक, कक्षा में अपने विषय को पढ़ाने व अपने ज्ञान को विद्यार्थियों तक पहुंचाने के लिए माध्यम के रूप में जिस भाषा का प्रयोग करता है, वही भाषा 'अनुदेशन माध्यम' (मीडियम ऑफ इंस्ट्रक्शन) कहलाता है। अनुदेशन माध्यम या शिक्षा का माध्यम किसी भी शिक्षा व्यवस्था का सबसे अहम हिस्सा होता है। अनुदेशन माध्यम ही विद्यार्थियों के सीखने की प्रक्रिया को सरल या कठिन बनाता है (प्रेमपाल, 2016)। बहुत सारे विद्यार्थियों की विद्यालयीय शिक्षा में अनुदेशन माध्यम की भाषा हिंदी या मातृभाषा होती है। जब उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए ये विद्यार्थी विश्वविद्यालय में प्रवेश करते है, तब वहां उनका नये शैक्षणिक वातावरण के साथ नए शैक्षणिक चुनौतियों से साक्षात्कार होता है। जैसे अनुदेशन माध्यम की भाषा में पूर्ण या आंशिक रूप से परिवर्तन होना। विश्वविद्यालय में प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों को शैक्षणिक असफलता का भय सबसे ज्यादा होता है, क्योंकि विश्वविद्यालय के वातावरण से लेकर शिक्षण कार्य तक सभी विद्यार्थी के लिए एक नया अनुभव होता है। साथ ही शैक्षणिक रूप से कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। जिसमें से एक चुनौती अनुदेशन माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग है (मुधोवोजि,2012)। हूसैन एवं अन्य विद्वान (2010) व सरकार एवं अन्य विद्वान (2015) ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया कि विद्यालय में स्थानीय भाषा से अचानक स्नातक प्रथम वर्ष में अनुदेशन माध्यम के रुप में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग होते देखते है तो उन्हें तनाव, चिन्ता और कई शैक्षणिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। साहित्यिक सर्वेक्षणों व पॉयलेट अध्ययन के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षक द्वारा प्रयुक्त अनुदेशन माध्यम पूर्ण या आंशिक रूप से अंग्रेजी होने पर कई विद्यार्थियों को समस्या उत्पन्न होती है। शोधकर्त्री प्रस्तुत

***शोध छात्रा, शिक्षा संकाय (कमच्छा), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ०प्र०।**

****असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय (कमच्छा), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ०प्र०।**

मापनी के माध्यम से यह जानने का प्रयास करेगी कि विद्यार्थियों को अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी क्या समस्याएं उत्पन्न होती हैं। जिससे भविष्य में हम उनकी सहायता कर सकें।

अध्ययन का उद्देश्य : प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित उद्देश्य है।

विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययनरत स्नातक प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी का निर्माण एवं प्रमाणीकरण करना।

उपकरण : अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी को शोधकत्री द्वारा विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययनरत स्नातक प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए निर्मित किया गया है। अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी को निर्मित करने के लिए लिकर्ट विधि का प्रयोग किया गया हैं। प्रस्तुत मापनी को निर्मित करने के लिए निम्नलिखित आवश्यक चरणों का अनुसरण किया गया। जैसे– उपकरण का निर्माण, पदों की पूलिंग, पूर्व परिक्षण, पद विश्लेषण, उपकरण की वैधता और विश्वसनीयता आदि।

(i) अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी के निर्माण के अंतर्गत लिए गये आयाम : अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी के निर्माण में सर्वप्रथम उपयुक्त आयामों की पहचान की गयी, जिससे अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या का मापन किया जा सके। इस कार्य को करने के लिए शोधकत्री ने अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या के विभिन्न मॉडलों, प्रकारों और आयामों का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण किया। साथ ही कई पत्रिकाओं, पुस्तकों, लेखों, एन.सी.ई.आर.टी. के स्थिति पत्रों, वेब साइटों की समीक्षा की और अंत में दो आयामों (शैक्षणिक व मनोवैज्ञानिक) को अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम से होने वाली प्रमुख समस्याओं के रूप में चुना गया। इसके अतिरिक्त शिक्षाशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र से सम्बंधित विशेषज्ञों से की गयी चर्चा और विचारों पर भी गहन विश्लेषण किया गया। प्राप्त दो आयाम विद्यार्थियों के अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या पर आधारित थे। जिनका सामना विद्यार्थी कक्षा में शिक्षण के दौरान करते हैं। शैक्षणिक व मनोवैज्ञानिक आयाम के अंतर्गत कुछ निम्नलिखित समस्याओं को उप आयाम के रूप में चुना गया।

(क) शैक्षणिक आयाम– शैक्षणिक आयाम के अंतर्गत निम्नलिखित समस्याओं को रखा गया, जो किसी भी विद्यार्थी के अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या को शैक्षणिक रूप से प्रभावित करती है। यह समस्या निम्नलिखित हैं – शिक्षक से सम्बन्धी समस्याएं, कक्षा वातावरण सम्बन्धी समस्याएं, भाषा कौशल से संबंधित समस्या (पढ़ना, लिखना, सुनना, बोलना)

(ख) मनोवैज्ञानिक आयाम – मनोवैज्ञानिक आयाम के अंतर्गत निम्नलिखित समस्याओं को रखा गया। जो किसी भी विद्यार्थी के अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्याओं के अध्ययन को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करती है। यह समस्याएं निम्नलिखित हैं – मानसिक समस्याएँ,सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याएँ।

(ii) पदों का पूल संग्रह : सम्बंधित साहित्य की समीक्षा व पायलट अध्ययन की सहायता से अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या की अवधारणा के बारे में गहरी समझ विकसित करने के बाद शोधकत्री ने दो आयामों (शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक) पर आधारित अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी उपकरण के लिए पदों को निर्मित करना शुरू किया। मापनी का खाका तैयार करने के बाद जर्नल्स, पत्रिकाओं, पुस्तकों, विषेशज्ञों की राय, व्यक्तिगत अनुभवों, पायलेट अध्ययन (साक्षात्कार) आदि के आधार पर पदों का निर्माण किया गया। जहाँ तक संभव था, अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या से सम्बंधित केवल प्रतिनिधि पदों को ही मापनी में रखा गया। अर्थहीन, अप्रासंगिक और अस्पष्ट पदों से बचने की कोशिश की गयी। दो आयामों के अंतर्गत सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की प्रकृति के पदों को रखा गया। सभी पदों को उपकरण में यादृच्छिक क्रम में रखा गया। ऐसे कथन जो तथ्यात्मक होने में सक्षम थे, उस प्रकार के कथन वाले पदों को उपकरण से बाहर कर दिया गया। एक से अधिक तरीकों से व्याख्या किए जा सकने वाले कथनों को सरलता के लिए संशोधित किया गया। उपकरण में सम्मिलित सभी पदों की भाषा स्पष्ट और सरल रखी गयी। इस प्रकार, शुरुआत में 22 पदों का पूल एकत्र किया गया। शोधकत्री ने पदों

का एक बड़ा पूल खोजने का पूरा प्रयास किया, लेकिन हर प्रयास में पदों की पुनरावृत्ति बनी रही। इसलिए शोधकर्त्री पदों के इस पूल के साथ ही आगे बढ़ी।

(iii) उपकरण के प्रथम ड्राफ्ट की तैयारी– एक अच्छी मापनी के सभी वांछनीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए उपकरण के प्रथम ड्राफ्ट की तैयारी की गयी। जिससे उत्तरदाताओं को दिए जाने वाले आवश्यक निर्देश स्पष्ट रूप में दिए जा सके। सभी पदों को 5 बिंदुओं क्रमशः पूर्णतः सहमत, सहमत, अनिश्चित, असहमत, पूर्णतः असहमत रेटिंग वाली मापनी पर निर्णय लेने के लिए तैयार किया गया। इस प्रकार मापनी में अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या के विभिन्न आयामों का आकलन करने के लिए 22 पदों को तैयार किया गया। प्रस्तुत मापनी को हिंदी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में तैयार किया गया।

(iv) प्रथम ड्राफ्ट का संपादन – उपकरण के पहले ड्राफ्ट को तैयार करने के बाद शिक्षाशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र से सम्बंधित 4 शिक्षाविदों द्वारा उपकरण की समीक्षा करवायी गयी। ताकि सूची, पद, पदों के प्रकार, भाषा की अस्पष्टा और स्पष्टता की उपयुक्तता और प्रासंगिकता के विषय में उनकी राय और सुझाव प्राप्त किये जा सके। इस प्रकार विषयवस्तु वैधता के विशेषज्ञों के कई मूल्यवान सुझाव आये। कुछ पदों की भाषा उपयुक्त नहीं थी और इसलिए उनके द्वारा प्राप्त राय और सुझाव के आधार पर उपकरण के पदों को परिवर्तित एवं संशोधित किया गया। विभिन्न क्षेत्रों से सम्बंधित विशेषज्ञों के निर्णयानुसार उपकरण में सम्मिलित 3 पदों को हटा दिया गया। पूर्व प्रशिक्षण के लिए केवल 19 पदों को ही उपकरण में सम्मिलित किया गया।

(v) पूर्व प्रशिक्षण – उपकरण का प्रथम ड्राफ्ट वाराणसी जनपद के विश्वविद्यालय (बी०एच०यू०) में अध्ययनरत स्नातक प्रथम वर्ष के उन 100 विद्यार्थियों पर प्रशासित किया गया। जिनकी विद्यालयी शिक्षा में अनुदेशन माध्यम की भाषा हिन्दी थी। पूर्व प्रशिक्षण के पश्चात उपकरण में आवश्यक संशोधन किया गया। कुछ पदों में जहां विद्यार्थियों ने अस्पष्टता की सूचना दी, ऐसे पदों की भाषा में सुधार किया गया।

(vi) ड्राफ्ट का पुनः सम्पादन – विद्यार्थियों द्वारा पूर्व– प्रशिक्षण के दौरान प्राप्त सुझावों और राय के आधार पर उपकरण को संशोधित किया गया और इस प्रकार उपकरण को पुनः सम्पादित किया गया।

(vii) उपकरण का दूसरा ड्राफ्ट – अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी के प्रथम ड्राफ्ट के 22 पदों को थोड़े बहुत संशोधन के पश्चात् दूसरे ड्राफ्ट के लिए सम्मिलित किया गया। अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी के दूसरे ड्राफ्ट में निम्नलिखित भाग थे।

(क) उपकरण का शीर्षक– उपकरण का एक उपयुक्त शीर्षक अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी के रूप में चुना गया। अंग्रेजी संस्करण English Medium of instruction related problem scale.

(ख) व्यक्तिगत प्रोफाइल शीट– वर्तमान अध्ययन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों की जनसांख्यिकी जानकारी एकत्रित करने के लिए उत्तरदाताओं के लिए एक व्यक्तिगत प्रोफाइल शीट तैयार की गई।

(ग) उत्तरदाताओं के लिए निर्देश– उत्तरदाताओं से उचित प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए उपकरण के प्रारंभिक भाग में उनके लिए निर्देश दिए गए। इस खंड में प्रतिक्रियाओं की गोपनीयता का भी आश्वासन दिया गया।

(घ) शोधकर्त्री के प्रयोग हेतु फलांकन तालिका– उत्तरदाताओं से प्रतिक्रिया प्राप्त करने के पश्चात् शोधकर्त्री के प्रयोग हेतु, एक फलांकन तालिका थी, जिसका प्रयोग उत्तरदाताओं से प्राप्त उत्तरों के मूल्यांकन के लिए किया गया।

(च) अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी – उपकरण के इस भाग में विद्यार्थियों के अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या से सम्बन्धित पदों को सम्मिलित किया गया है।

(viii) ट्राई–आउट चरण – इस चरण में पदों के विश्लेषण के उद्देश्य से अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी को विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययनरत प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों पर प्रशासित किया गया।

(ix) पद विश्लेषण– पद विश्लेषण एक सांख्यिकी तकनीक है। जिसका उपयोग परीक्षण के पदों को उनकी कठिनाई स्तर और विभेदन क्षमता के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए किया जाता है। पदों के कठिनाई स्तर और विभेदन क्षमता का अध्ययन करने के लिए शोधकर्त्री द्वारा टी–टेस्ट लागू किया गया। विश्वविद्यालय स्तर अध्ययनरत विद्यार्थियों पर अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी के प्रशासन के पश्चात प्राप्त प्राप्तांकों के आधार पर अधिक से कम या आरोही क्रम में व्यवस्थित किया गया। तत्पश्चात उत्तर पत्रकों के दो समूह उच्च समूह तथा निम्न समूह बनाये गये। शीर्ष 27% मामलों को ऊपरी समूह और निचले 27% मामलों को निचले समूह के रूप में चुना गया। अंग्रेजी अनुदेशन मध्यम संबंधी समस्या मापनी के पदों के लिए प्राप्त टी–मूल्य को नीचे दी गई. तालिका संख्या 1 में दर्शाया गया है कि उपरोक्त तालिका में उन सभी पदों के टी–मूल्य को इंगित करती हैय जो 0.13 से 5.76 तक थी। यह पाया गया कि सभी पदों में से पद संख्या 2, 15, 20 को छोड़कर अन्य सभी प्रश्नों में विभेदन क्षमता मूल्य था। जो 0.05 के महत्व के स्तर पर महत्वपूर्ण नहीं थे, इसलिए पद संख्या 2, 15, 20 को अंतिम सूची से हटा दिया गया और कुल 19 प्रश्नों को ही अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी के अंतिम ड्राफ्ट में रखा गया।

तालिका संख्या 1:

प्रस्तुत तालिका में अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी का पद विश्लेषण प्रदर्शित किया गया है

प्रश्न सं.	उच्च 27%		निम्न 27%		टी–मूल्य टिप्पणी	
	मध्यमान–1 M-1	मानक विचलन–1 SD -1	मध्यमान—2 M-2	मानक विचलन–2 SD-2	T- Value	R/S
1.	4.3333	0.96077	2.11111	0.9740	8.2821	S
2.	3.556	1.155	3.148	1.35	1.169	R
3.	4.667	0.48	2.778	1.219	7.348	S
4.	4.44	0.51	2.37	1.31	7.55	S
5.	4.48	0.7	2	0.88	11.3	S
6.	3.93	1.07	1.63	0.56	9.67	S
7.	3.889	1.219	2.074	1.107	5.619	S
8.	4.11	1.01	1.78	0.7	9.67	S
9.	4.07	0.73	1.85	0.72	11.1	S
10.	4.556	0.506	2.111	0.751	13.76	S
11.	4.259	0.859	1.852	0.907	9.824	S
12.	3.889	1.05	1.963	0.94	6.969	S
13.	4.407	0.501	2.222	0.974	10.17	S
14.	4.222	0.641	2.074	0.997	9.242	S
15.	2.333	0.961	2	1	1.226	R
16.	4.333	0.555	1.593	0.501	18.7	S
17.	4.37	0.492	2.222	0.934	10.38	S
18.	3	1.24	1.37	0.492	6.227	S
19.	3.481	1.051	2.63	1.214	2.705	S
20.	4.148	0.907	2.519	1.312	5.21	S
21.	2.296	1.235	1.926	0.829	1.27	R
22.	4.333	0.555	2.259	1.163	8.206	S

(x) उपकरण का अंतिम ड्राफ्ट : पद विश्लेषण के परिणाम स्वरुप मापनी का अंतिम ड्राफ्ट तैयार किया गया। अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी के अंतिम ड्राफ्ट के रूप में अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या के दो आयामों के अंतर्गत कुल 19 पदों को सम्मिलित किया गया। 19 पदों में से 10 पद शैक्षणिक समस्या से संबंधित है जबकि 9 पद मनोवैज्ञानिक समस्या से संबंधित है।

(xi) स्कोरिंग प्रक्रिया : अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापन उपकरण में प्रत्येक पद से प्राप्त की जाने वाली प्रतिक्रिया को पूर्णतः सहमत, सहमत, अनिश्चित, असहमत, पूर्णतःअसहमत पांच विकल्पों को सम्मिलित किया गया। पदों में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रश्न सम्मिलित हैं। सकारात्मक पदों के विकल्प पूर्णतः सहमत, सहमत, अनिश्चित, असहमत, पूर्णतः असहमत को 5, 4, 3, 2, 1 स्कोर दिया गया तथा नकारात्मक पदों की विकल्प पूर्णतः असहमत, असहमत, अनिश्चित, सहमत, पूर्णतः सहमत के लिए 1, 2, 3, 4, 5 स्कोर दिए गए।

मापनी के प्रत्येक आयाम में पदों की संख्या – 19 पदों में प्राप्त अंकों का कुल योग किसी भी विद्यार्थी के अनुदेशन माध्यम में आने वाली समस्या को दर्शाता है। इस मापनी में प्राप्त उच्च प्राप्तांक विद्यार्थी के अनुदेशन माध्यम में अधिक समस्या को इंगित करता है। जबकि मापनी में प्राप्त निम्न प्राप्तांक विद्यार्थी की अनुदेशन माध्यम में कम समस्या को इंगित करता है। अधिकतम अंक के साथ प्रत्येक आयाम में पदों की संख्या निम्नलिखित तालिका संख्या 2 में दर्शायी गई है।

तालिका संख्या 2: अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी में सम्मिलित दो आयाम संबंधित प्रश्नों का विवरण

अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापनी के आयाम	प्रश्न संख्या	सकारात्मक प्रश्न	नकारात्मक प्रश्न	प्रश्नों की संख्या
शैक्षणिक आयाम	1, 2, 3, 4, 5 6, 14, 15, 17, 18	1, 2, 3, 4, 5, 6, 14, 15, 17	18	10
मनोवैज्ञानिक आयाम	7, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 16, 19	7, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 16, 19		9
योग	19	18	1	19

(xiii) अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी की विश्वसनीयता– किसी भी अच्छे उपकरण की महत्वपूर्ण विशेषता उसका विश्वसनीय होना है। उपकरण की विश्वसनीयता से तात्पर्य उपकरण के प्राप्तांको की संगतता से है। उपकरण में संगतता अधिक होने से उसमें स्थायित्व का गुण आता है। अर्थात किसी परिस्थिति में यदि उपकरण को एक ही प्रकार के व्यक्तियों के समूह पर दुबारा क्रियान्वित किया जाए, तो प्रत्येक व्यक्ति का प्राप्तांक करीब–करीब वही होगा जो पहली बार क्रियान्वयन करने पर था। प्रस्तुत मापनी की विश्वसनीयता टेस्ट–रीटेस्ट से 0.71 एवं क्रोनबैक अल्फा विधि से 0.81 अभिकलित की गई है।

(xiv) अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी की वैधता– वैधता से तात्पर्य उपकरण की सत्यतता से है। यदि उपकरण के पदों द्वारा उसी गुण का मापन होता हैय जिसके लिए उसे बनाया गया हैय तो यह माना जाता है कि उस उपकरण में वैधता है।प्रस्तुत उपकरण की वैधता के लिए इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों द्वारा रूप वैधता एवं विषयगत वैधता का निर्धारण किया गया

इसलिए अध्ययन के उपकरण की वैधता मापन को निर्धारित करने के लिए विषयवस्तु वैधता को स्थापित किया गया।

विषयवस्तु वैधता – प्रस्तुत उपकरण में प्रयुक्त पदों की विषयवस्तु वैधता विशेषज्ञों, शोधार्थियों और प्रतिभागियों तीनों के निर्णय पर आधारित थी। इसलिए शिक्षा संकाय बी०एच०यू० वाराणसी के शिक्षा और मनोविज्ञान के क्षेत्र से संबंधित 5 विशेषज्ञों को उपकरण दिया गया। विशेषज्ञों और प्रतिभागियों ने उपकरण के कुछ पदों के संबंध में सुझाव दिए और सही किया। इस प्रकार प्रतिदर्श से प्रदत्त एकत्र करने के लिए उपकरण के प्रासंगिक और उपयुक्त पदों के अंतिम रूप देने में मदद मिली।

(xv) अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापने के लिए मानदंड – अंको की सार्थक व्याख्या को सुविधाजनक बनाने के लिए अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम सम्बन्धी समस्या मापने के लिए मानदंड माध्य और मानक विचलन के संदर्भ में तैयार किया गया था। सीखने की शैली प्राथमिकता तय करने के लिए अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी के प्रत्येक क्षेत्रों के लिए अलग–अलग बार आवृत्ति वितरण पर प्राप्तांक की व्यवस्था की गई। इसके अलावा इसके माध्य और मानक विचलन की गणना की गई और मानदंड निम्नानुसार निर्धारित किए गए।

तालिका संख्या 3: अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम समस्या मापनी के मानदंड का प्रदर्शन

क्रम संख्या	प्राप्त कुल प्राप्तांक	विद्यार्थियों में अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या का स्तर
1	औसत से ऊपर	.1 सिग्मा से ऊपर (178 से ऊपर का स्कोर)
2	औसत	.1 सिग्मा से–1 सिग्मा तक (126 से 178 के बीच का स्कोर)
3	औसत से नीचे	–1 सिग्मा से नीचे (स्कोर 126 से नीचे)

निष्कर्ष – प्रस्तुत शोध लेख का उद्देश्य विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययनरत स्नातक प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम संबंधी समस्या मापनी का निर्माण और प्रमाणीकरण करना था। उपयुक्त सांख्यिकीय तकनीकों का उपयोग करके मापनी को प्रमापीकृत करने के लिए व्यवस्थित प्रयास किए गए और इसलिए मापनी का उपयोग विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययनरत स्नातक प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों को अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम से होने वाली समस्याओं के स्तर को मापने के लिए किया जा सकता है। प्रस्तुत मापनी विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों में अंग्रेजी अनुदेशन माध्यम से होने वाली समस्याओं के स्तर की पहचान करके उनके प्रदर्शन को बेहतर बनाने के लिए उचित प्रयास करने में सहायक होगी, और भविष्य में किए जाने वाले शोध के लिए इसका उपयोग और विस्तार किया जा सकता है।

संदर्भ सूची–

- Khan, Anjum(2018). *Problem faced by Hindi medium students in English environment, get tips to deal with it. Retrieved* from *Website* https://www.jagranjosh.com/articles/problems-and-their-solutions-for-hindi-medium-students-1523626417-1
- Stone,Ashley(2017). *Rural students and Higher Education: An overview of challenges and Opportunities* .Texas Education Review. Vol5, issue 1PP 1-9.Retrieved from website: http:/www.Academia.edu/34181516/Rural_students_and_Higher_Education
- Esmael,Adem et al.(2018).*Adjustment problem among first year university students in Ethiopia:Access ectional survey.*Journal of Psychiatry Vol21 (5)ISSN:2378-5756.Retrieved from website: http://www. omicsonline.org/open-access-2378-5756.html

- Macaro,Ernesto et all (2018).*A systematic review of English medium instruction in higher education.* State – of-the-Art article Vol51.1 Retrieved from *Website* https://www.cambridge.org/core/journals/language-teaching/article/systematic-review-of-english-medium-instruction-in-higher-education/E802DA0854E0726F3DE213548B7B7EC7
- Sultana, S. (2014). *English as a medium of instruction in Bangladesh's higher education:Empowering or disadvantaged students?*. Asian EFL Journal.Retrieved from website:https://www.sian-efl-journal. com/main-editions-new/english-as-a-medium-of-instruction-in-bangladeshs-higher-education-empowering-or-disadvantaging-students
- Gupta, D., & Gupta, N. (2012). *Higher education in India: structure, statistics and challenges.* Journal of education and Practice, 3(2).Retrieved from website: https://www.iiste.org/Journals/index.php /JEP/article/view/1146
- Singh, J. D. (2011). *Higher education in India–Issues, challenges and suggestions*. Higher education, 93-103.
- Ninnes, P., Aitchison, C., & Kalos, S. (1999). *Challenges to stereotypes of international students' prior educational experience: Undergraduate education in India*. Higher Education Research & Development, 18(3), 323-342.
- Sheikh, Y. A. (2017). *Higher education in India: Challenges and opportunities.* Journal of Education and Practice, 8(1), 39-42.
- Shukla,H.(2004).*Communication in English problems faced by Hindi Medium students in Technical Institution Language in India.*Vol 4 Retrieved from website: http://www.languageinindia.com/june 2004/problemcommunication.html
- Wong,R.M.H.(2009).*The effectiveness of using English as the sole Medium of Instruction in English Classes: Student responses and improved English proficiency*.*Porta Linguarum* ISSN:1697-7467
- Jayaram, N. (2004). Higher Education in India. Asian universities: Historical perspectives and contemporary challenges, 85.
- Mishra,K.G. and Sharma,J.(2013). *An empirical study into difficulties faced by Hindi medium students India at undergraduate mathematics and its social implication.* Retrieved from website: http://muep.mau.se/bitstream/handle/2043/24043/MES9_Proceedings_low_Volume2.pdf?sequence=2&isAllowed=y#page=361
- Vulli,Dhanaraju(2014).*English and Medium of instruction: Dalit discourse in India Education.* Research journal of Educational Science,Vol2(2) ISSN2321- 0508. Retrieved from website: http:/www.academia Edu/7927009/ English and Medium of instruction Dalit_discouse in _India_Education.
- Wu,H.P et al (2015).*International student's challenge and adjustment to college.* Educational Research International Vol2015 *Retrieved from* website:***http://dx.doi.org***
- Civan,A. & Coskun ,A.(2016).*The effect of the medium of instruction language the Academic success of university students.* Educational Sciences: Theory an Practice,16(16), 1981-2004. Retrieved from website: http://www.researchgate.net/publication/311258845_The_effect_of_the_medium_of_instruction_language_on_the_academic_success_of_university_students
- Brooker, A., Brooker, S., & Lawrence, J. (2017). *First year students' perceptions of their difficulties.* Student Success, 8(1), 49-63. Retrieved from Website https://studentsuccessjournal.org/article/view/492

- Macaro,Ernesto et all (2018).*A systematic review of English medium instruction in higher education.* State – of-the-Art article Vol51.1 Retrieved from *Website* https://www.cambridge.org/core/journals/language-teaching/article/systematic-review-of-english-medium-instruction-in-higher-education/E802DA0854E0726F3DE213548B7B7EC7

- *GETTINGER, AARON (2019). A big reason rural students never go to college: Colleges don't recruit them. Retrieved from Website https://hechingerreport.org/a-big-reason-rural-students-never-go-to-college-colleges-dont-recruit-them/*
- Hu,Guangwei(2019).*English Medium Instruction in Higher Education: Lesson from China.* The Journal of Asia TEFL *Vol16(1).*Retrieved from Website:http://www.academia.edu/38678088/English_Medium_instraction_In_Higher_Education_Lesson_from_China

ꕥ★ꕥ

विशिष्ट शिक्षकों और दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अन्तःक्रिया का अध्ययन

राम कुमार मानिक*

डॉ. आर. एन. शर्मा**

सार :– आज के समय में सामान्य विद्यार्थियों के साथ–साथ विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थियों को समाज की मुख्यधारा में लाने का प्रयास राज्य तथा केंद्र सरकार द्वारा किया जा रहा हैं और विशिष्ट विद्यार्थियों की आवश्यकतानुसार अनेक नीतियाँ, योजनाएं, संस्थाएं, निगरानी समूह तथा उनके अधिकारों की रक्षा के लिए अनेक कानून बन चुके हैं। प्रस्तुत अध्ययन में विशिष्ट शिक्षक साक्षात्कार, विद्यार्थी प्रश्नवाली और अवलोकन अनुसूची द्वारा 'विशिष्ट शिक्षकों और दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अन्तः क्रिया का अध्ययन' किया गया हैं जिसकी कुछ सीमाएं भी हैं और यह देखनें का प्रयास किया गया हैं कि उपयुक्त शिक्षण अधिगम सामग्री, विधियाँ, रणनीतियाँ, तकनीकी और उपकरण विशिष्ट शिक्षकों और दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अन्तः क्रिया को बढ़ाने में कैसे उपयोगी हैं।

मुख्य बिंदु :– विशिष्ट शिक्षक, दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थी, विशिष्ट माध्यमिक विद्यालय, अन्तःक्रिया।

प्रस्तावना :– हम आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में जी रहे हैं। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं हैं जो इनसे अछूता हों। नित नए–नए आविष्कार हो रहे हैं और हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण बदलाव ला रहे हैं। इन्ही क्षेत्रों में से एक विशिष्ट शिक्षा हैं जो विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थियों और विशिष्ट शिक्षकों एवं विशिष्ट शिक्षण सामग्रियों के द्वारा शिक्षण–अधिगम कार्य होता हैं। अधिगम के विभिन्न माध्यमों एवं विधियों द्वारा कक्षा–कक्ष में शिक्षक और विद्यार्थियों में मध्य जो शिक्षण–अधिगम का कार्य होता हैं उसे अन्तः क्रिया कहते हैं। इस अन्तः क्रिया में विशिष्ट शिक्षक निर्धारित पाठ पुस्तकों से विभिन्न प्रकरणों पर दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों से खुल कर चर्चा करते हैं और दोनों तरफ से प्रश्नोत्तरी होती हैं, जिससे अनेक अवधारणाओं को आसानी से सिखाया जाता हैं। अन्तःक्रिया के मुख्य तीन कारक हैं– शिक्षक, छात्र और विषय वस्तु। इन्ही तीनों के पारस्परिक अनुक्रिया द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति होती हैं। विशिष्ट शिक्षक अनेक शाब्दिक–अशाब्दिक माध्यमों का प्रयोग करके प्रकरण को स्पष्ट और शंकाओं को दूर करते हैं। प्रस्तुत शोध में निःशक्तजन अधिकार अधिनियम, 2016 के अनुसार, दृष्टिबाधित विद्यार्थी का अर्थ दृष्टि का पूर्ण अभाव या सभी सुधारक लेंसों के साथ दृष्टि तीक्ष्णता 3600 या 10/200 (स्नेलन चार्ट से अधिक न हो) या दृष्टि क्षेत्र का 10 डिग्री से कम या बद्तर हो तथा श्रवणबाधित विद्यार्थी का अर्थ वह है जो दोनों कानो से 60 या 70 डेसीबल की आवाज सुनने में असक्षम हो तथा बोलने तथा भाषा समझने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विशिष्ट माध्यमिक विद्यालयों से यहाँ यू पी और सी बी एस ई बोर्डों द्वारा मान्यता प्राप्त विद्यालय से हैं जहां कक्षा 9–10 की कक्षाएं चलती हैं। राय (1992) ने 24 माध्यमिक विद्यालयों के 32 शिक्षकों को प्रतिदर्श के रूप में तथा 100 कक्षाओं कों अध्ययन में लिया और अपने अध्ययन का निष्कर्ष निकाला कि अधिकांश शिक्षकों ने व्याख्यान विधि का प्रयोग किया और अधिकांश शिक्षकों ने विद्यार्थियों से प्रश्न पूछना, व्याख्या करना, निर्देश देना, प्रशंसा करना और प्रेरित करना का कार्य किया गया। वसु (1992) ने शिक्षक व्यवहार का अध्ययन किया और पाया कि प्रत्यक्ष व्यवहार में शिक्षकों ने प्रश्न पूछना, प्रशंसा करना, स्पष्टीकरण देना, प्रेरित करना, पुनर्बलीत करना और अप्रत्यक्ष रूप से निर्देश, आलोचना, छात्र पहल आदि का प्रयोग करते पाया। इसी तरह का अध्ययन फारुख और शहजादी (2006) ने 200 छात्रों और छात्राओं पर किया और परिणाम में पाया कि अप्रशिक्षित शिक्षकों की अपेक्षा प्रशिक्षित द्वारा पढ़ाएं विद्यार्थियों की अन्तः क्रिया अधिक सफल रही। कौर, कमाल (2015) ने फलैन्डर अन्तःक्रिया (1964) का प्रयोग शिक्षण–अधिगम की प्रक्रिया पर किया और पाया कि यह पूर्णतः शिक्षक केंद्रित रही और विद्यार्थी अंत तक शांत बने रहेद्य सुमिर (2016) ने

***शोधार्थी, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।**

****एसोसीएट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।**

कक्षा 9 में पढ़ने वाले गणित की कक्ष की अन्तः क्रिया का अध्ययन किया और पाया कि अधिकांशतः विद्यार्थी और छात्र सक्रिय रहे। इसी तरह का अध्ययन बॉन्ड (2011) ने किया और अपने निष्कर्ष में पाया कि शिक्षक पाठ पुस्तकों के साथ अन्य प्रकरणों पर छात्रों को पढ़ाते हैं और विद्यार्थियों की भावनाओं, विचारों, प्रश्न पूछने का अवसर, अच्छे कार्यों की प्रशंसा करते हैं जिसका प्रभाव विद्यार्थियों के अधिगम पर सकारात्मक रहा। तिवारी (2011) ने प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों पर अध्ययन में पाया कि पुरुष शिक्षकों की तुलना में महिला शिक्षिकाओं ने अधिक अशाब्दिक कक्षागत व्यवहार किया जिससे दोनों के मध्य अन्तःक्रिया अधिक सफल रही।

अध्ययन की आवश्यकता :– सामान्यतः यह देखा गया हैं कि हम सामान्य विद्यार्थियों और उनके शिक्षकों की शिक्षण–अधिगम से संबधित सभी गतिविधियों का अवलोकन और विवेचना करते हैं लेकिन हम दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों की शिक्षण–अधिगम और उनके विशिष्ट शिक्षकों के मध्य अन्तःक्रिया पर हमारी नजर नहीं जाती हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर शोधार्थी ने यह अध्ययन किया। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य इस प्रकार हैं–

1. **विशिष्ट शिक्षकों और दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अन्तः क्रिया का अध्ययन करना।**

शोध विधि :– प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि के अतर्गत मिश्रित शोध उपागम (Mixed Method) का प्रयोग किया गया हैं। स्वनिर्मित और विषय विशेषज्ञों द्वारा प्रमाणित शिक्षकों का साक्षात्कार अनुसूची, विदयार्थियों की प्रश्नावली और विद्यालय अवलोकन सूची का निर्माण किया गया और इन्ही के द्वारा गुणात्मक और मात्रात्मक प्रदत्त संकलित किया गया हैं।

जनसंख्या :– प्रस्तुत अध्ययन में वाराणसी जनपद के सभी चार विशिष्ट माध्यमिक विद्यालयों– हनुमान प्रसाद पोद्दार अंध इन्टरमिडियट कॉलेज, दुर्गाकुंड, जीवन ज्योति हाइयर सेकेंडरी स्कूल फॉर द ब्लाइन्ड, सारनाथ, नव वाणी स्कूल फॉर द डेफ, कोइराजपुर, बिमल चंद्र घोष विद्यालय फॉर द डेफ, वाराणसी के विशिष्ट शिक्षक और उनमे अध्ययनरत दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों को जनसंख्या के रूप में लिया गया हैं।

प्रतिदर्श और प्रतिदर्शन प्रविधि :– प्रस्तुत अध्ययन में यादृच्छिक विधि द्वारा कुल 15 विशिष्ट शिक्षक और कुल 104 विद्यार्थियों (51 दृष्टिबाधित एवं 53 श्रवणबाधित विद्यार्थी) को लिया गया हैं।

प्रयुक्त उपकरण :– इस अध्ययन में प्रयुक्त शोध उपकरणों का विवरण निम्नलिखित दिया गया हैं–

सारणी संख्या –1

क्र.सं.	उपकरण	प्रकृति	विश्वसनीयता एवं वैधता
1.	दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों की अन्तःक्रिया से संबंधित शिक्षक अर्द्धसंरचित साक्षात्कार अनुसूची	स्वनिर्मित	विशेषज्ञों द्वारा रूप वैधता एवं विषयगत वैधता का निर्धारण किया गया।
2.	दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों की अन्तः क्रिया से संबंधित प्रश्नावली मापनी	स्वनिर्मित	विशेषज्ञों द्वारा रूप वैधता, विषयगत वैधता एवं अर्द्ध–विच्छेदन विश्वसनीयता का निर्धारण किया गया।
3.	विद्यालय अवलोकन अनुसूची	स्वनिर्मित	विशेषज्ञों द्वारा रूप वैधता एवं विषयगत वैधता का निर्धारण किया गया।

सांख्यिकीय विधियाँ :– आँकड़ों की प्रकृति के अनुसार विशिष्ट शिक्षक साक्षात्कार के लिए क्रेसवेल एंड प्लानों (2011) का प्रारूप के आधार पर थीम बनाया तथा विद्यार्थी प्रश्नावली का प्रतिशत विश्लेषण किया गया हैं।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या :– प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम चरण में दृष्टि एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों (कुल 104) से प्रश्नावली द्वारा मात्रात्मक आँकड़ा संकलित किया गया था जिसका विश्लेषण निम्नलिखित सारणी में दिया गया हैं–

सारणी संख्या– 2

अन्तः क्रिया का क्रम संख्या	अन्तःक्रिया का नाम	दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों का उत्तर (%) में
1.	भावनाओं को स्वीकारना	100
2.	प्रशंसा करना	100
3.	सुझावों को मानना	85
4.	प्रश्न पूछना	93

5.	प्रकरण की व्याख्या करना	86
6.	दिशा– निर्देश देना	100
7.	गलत उत्तर की आलोचना एवं सुधार करना	89
8.	शिक्षक से बातचीत करना	92
9.	नई पहल पर अनुक्रिया	100
10.	कक्षा में मौन या शंका का कारण पूछना	92

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होता हैं कि शिक्षक–छात्र अन्तःक्रिया में दृष्टि एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों का उत्तर बहुत ही सकारात्मक पाया गया हैं। विशिष्ट शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों की भावनाओं को स्वीकारना, विद्यार्थियों के अच्छे कार्यों की प्रशंसा करना, विद्यार्थियों को समय–समय पर आवश्यक निर्देश देना, विद्यार्थियों के नई पहल का स्वागत करना, विद्यार्थियों के सही सुझावों को मानना उसका शिक्षण में प्रयोग करना, विद्यार्थियों से प्रश्न पूछना और उन्हें प्रश्न पूछने का अवसर देना, प्रकरण की व्याख्या करना, गलत उत्तर की आलोचना एवं सुधार करना, विद्यार्थियों द्वारा शिक्षक से बातचीत करना और कक्षा में मौन या शंका होने पर विशिष्ट शिक्षक उसका कारण और निवारण करते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता हैं कि छात्रों के शिक्षक के साथ सफल अन्तःक्रिया होती हैं जो विशिष्ट शिक्षा के निर्धारित उद्देश्यों के अनुकूल हैं।

प्रस्तुत अध्ययन द्वितीय चरण में विशिष्ट शिक्षकों (कुल 15) से अर्द्धसंरचित साक्षात्कार अनुसूची द्वारा गुणात्मक आँकड़ा संकलित किया गया था जिसका विश्लेषण निम्नलिखित दिया गया हैं–

प्रश्न 1– आप विद्यार्थियों की भावनाओं, विचारों और सुझाओं को किस प्रकार स्वीकार करते हैं ?

विद्यार्थियों की भावनाओं, विचारों और सुझाओं को स्वीकारना :– विशिष्ट शिक्षकों ने अपने साक्षात्कार में बताया कि वे विद्यार्थियों की भावनाओं का हमेशा सम्मान करते हैं, उन्हें हमेशा अपनी बात रखने का अवसर देते हैं ताकि वे खुलकर अपनी प्रगति तथा समस्याओं को कह सके। अगर उनके द्वारा दी गई कोई उत्तर या सुझाव गलत हैं तो हम उसे सुधारतें हैं और सबके सामने कक्षा में प्रस्तुत कराते हैं, जिससे अन्य विद्यार्थी भी प्रेरित होकर अपनी भावनाओं और विचारों को रखते हैं। कभी–कभी उपयोगी सुझावों को शिक्षण कार्यों में भी उपयोग करते हैं जिससे शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया तीव्र होती हैं और वांछित परिणाम मिलता हैं।

प्रश्न 2– आप विद्यार्थियों को किस प्रकार अभिप्रेरित एवं जिज्ञासु बनाते हैं ?

अभिप्रेरित एवं जिज्ञासु बनाना :–विशिष्ट शिक्षकों ने अपने साक्षात्कार में बताया कि इन विद्यार्थियों की रुचियों और क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षण–अधिगम कार्य करते हैं, क्योंकि जो विद्यार्थी अधिगम में रुचि रखते हैं, वही स्वयं से सीखने हैं। शिक्षकों द्वारा श्रवणबाधित विद्यार्थियों को–दृश्य माध्यमों से और–ष्टिबाधित विद्यार्थियों को श्रव्य माध्यमों से शिक्षित करने का प्रयास किया जाता है। दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के लिए ब्रेल, उभरी हुई सामग्री एवं ध्वनि रिकॉर्ड सामग्री उपलब्ध है, जिससे इन विद्यार्थियों के शिक्षण–अधिगम कार्य को सुलभ बनाया जाता है। इन विद्यार्थियों की जरूरत के आधार पर शिक्षकों द्वारा शिक्षण नीतियों में भी सुधार करके इन्हें महापुरुषों की कहानियाँ सुनाकर शिक्षण–अधिगम के लिए प्रेरित किया जाता है। इनकों विकलांग महापुरुषों की कहानियाँ इन्हें प्रेरणा प्रदान करती हैं। शिक्षक इन विद्यार्थियों को सफल दिव्यांग व्यक्तियों जैसे कि लुई ब्रेल, स्टीफन हॉकिंग्स, सुधा चंद्रन, रवींद्र जैन, देवेंद्र झाझरिया, भावना पटेल, मारियाप्पन ठंगबेलू, अरुणिमा सिन्हा, वरुण सिंह भट्टी, अवनी लखेरा, दीपा मालिक आदि की सफलता भरी कहानियों के द्वारा प्रेरित करते हैं। शिक्षक द्वारा उनकी कहानियों को इन विद्यार्थियों के सम्मुख नाट्य रूपांतर करके प्रस्तुत कराया जाता है, जिससे कि ये विद्यार्थी अभिप्रेरित हो सकेंद्य अपनी क्षमता पहचान कर ये उन्ही व्यक्तियों की तरह भविष्य में बनाना चाहते हैं और भविष्य की योजना पर चर्चा खुल कर चर्चा और अधिक से अधिक प्रश्न पूछते हैं। एक शिक्षिका ने अपने साक्षात्कार में कहा, "हम विद्यार्थियों को अभिप्रेरित और जिज्ञासु बनाने के लिए नए प्रकरण की खोज करना, अपने दिए गए बुक से मिलाना और कई स्थानों की सैर कराना और महापुरुषों की कहानियां सुना कर प्रेरित करते हैं।"

प्रश्न 3– आप विद्यालय मे विद्यार्थियों को पुनर्बलित करने हेतु क्या–क्या करते है ?

विद्यार्थियों को पुनर्बलित करना :– विशिष्ट शिक्षकों ने साक्षात्कार में बताया कि शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया में घर का वातावरण एवं माता–पिता का–ष्टिकोण का बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। शिक्षकों के अनुसार इन विद्यार्थियों को उनकी योग्यता से परिचित करते हैं जिससे वे स्वयं प्रेरित होकर स्वयं कार्य सकें। कक्षा–कक्ष में शिक्षकों द्वारा विशिष्ट विद्यार्थियों को बार–बार अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे उसके अंदर आत्मविश्वास जागृत हो सकेद्य जिससे शिक्षण–अधिगम के प्रति प्रेरित होते हैं। पुनर्बलित करने हेतु उनकी अच्छी आदतों, कार्यों की प्रशंसा करते हैं। उन बच्चों का उदाहरण देते हैं जो बड़ी सफलता प्राप्त कर चुके है। शिक्षकों द्वारा इन विद्यार्थियों को समय–समय पर शाब्दिक–अशाब्दिक रूप से पुनर्बलन प्रदान किया जाता है और उनकी शैक्षिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में उपलब्धि के आधार पर पुरस्कृत किया जाता है। शिक्षकों द्वारा उनके प्रोत्साहन हेतु –कॉपी और बाग पर स्टार का चिह्न बनाना, टमतल ळववक, ळववक, एवं मौखिक पुनर्बलन हेतु –शाबाश, Very Good, Good, Excellent का प्रयोग किया जाता है, जो विद्यार्थियों को आंतरिक रूप से अभिप्रेरित करती हैं। इन विद्यार्थियों को सामान्य विद्यार्थियों से अधिक पुनर्बलन की जरूरत होती है, इसलिए इनके कार्य की प्रशंसा सामान्य विद्यार्थियों से अधिक की जाती है।

प्रश्न 4– आप किन–किन शैक्षिक प्रकरणों पर विद्यार्थियों को दिशा–निर्देश देते हैं ?

विद्यार्थियों को दिशा–निर्देश देना :– विशिष्ट शिक्षकों ने साक्षात्कार में बताया कि उनकी सहभागिता विद्यालय की सभी गतिविधियों में जैसे विद्यालय का वार्षिकोत्सव, स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, गांधी जयंती, होली, दीपावली और विभिन्न महापुरुषों के जन्म दिवस आदि पर कार्यक्रम करने एवं भाग लेने हेतु आवश्यक दिशा–निर्देश देते हैं। इस कार्य के द्वारा इन छात्रों में एकता की भावना का विकास होता हैं। शिक्षण–अधिगम के समय कैसे उत्तर अपने नोट बुक में लिखना हैं, अगर उत्तर गलत हो गया तो कैसे उसे सुधारे, गृहकार्य करते समय ध्यान देने योग्य बातें, कठिन प्रकरण को ध्यान से समझ कर लिखे और परीक्षा के समय 'क्या करे और क्या न करे', उत्तर कैसे लिखे आदि पर महत्वपूर्ण निर्देश देते हैं ताकि इनसे कम से कम गलती होद्य सबसे बड़ी समस्या तो आवागमन में होती हैं अगर नियमों का पालन न करे तो दुर्घटना की संभवना बढ़ जाती हैं। शैक्षिक और अन्य वस्तुओं को खरीदते समय भी ये धोखाधड़ी का शिकार हो जाते हैं। सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों का हमारे जीवन में बड़ा अहम भूमिका होती हैं जिसके पालन द्वारा ही हम समाज और परिवार में सम्मान के हकदार बन पाते हैं।

प्रश्न 5– विद्यार्थियों की नई पहल (New Initiatives) पर आपकी क्या प्रतिक्रियाएं होती हैं ?

नई पहल :– विशिष्ट शिक्षकों ने साक्षात्कार में बताया कि विद्यार्थियों की नई पहल का स्वागत और प्रशंसा करते हैं। अगर कोई नई पहल शिक्षण कार्यों में उपयोगी हो तो उस छात्र अनुक्रिया का प्रयोग शिक्षण में करते हैं। नई पहल का सबके सामने प्रस्तुत कराते हैं जिसका परिणाम यह हुआ की जो विद्यार्थी कम या नहीं बोलते ये सभी विद्यालयी गतिविधियों में भाग लेने लगे और उनकी शैक्षिक उपलब्धि में भी सुधार पाया गया।

प्रश्न 6– जब विद्यार्थी किसी प्रकरण पर सशंकित या शांत हो जाते हैं तब आप क्या करते है?

प्रकरण पर सशंकित या शांत होना :– विशिष्ट शिक्षकों ने साक्षात्कार में बताया कि जब किसी प्रकरण पर विद्यार्थी शांत या सशंकित हो जाते हैं तब हम उनसे कारण पूछते हैं और प्रश्न पूछने का अवसर भी देते हैं। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी पाए गए जो कुछ नहीं बोलते इसलिए ऐसी अवस्था में हम उनके मित्रों की सहायता लेते हैं। कुछ विशिष्ट शिक्षकों ने बताया कि समस्या समझना बहुत कठिन काम हैं इसीलिए हम लोग उन बच्चों को आगे बैठते हैं जो कम बोलते और शांत रहते हैं।

कक्षा में गतिविधियां कराना, प्रकरण को बार–बार दुहराना और बीच–बीच में मनोरंजक कहानियाँ सुनाना कुछ ऐसी की क्रियाएं हैं, जिनकें माध्यम से हम विद्यार्थियों की शंकाओं को दूर करने का प्रयास करते हैं। एक शिक्षक ने कहा, "अगर बच्चा सशंकित और शांत हो जाता है तो हम उसको आगे बैठने को बोलते हैं और अगर कोई प्रश्न है जो उसको समझ में नहीं आता है तो उसको हम गतिविधियों के द्वारा करवाते हैं, इसमे कभी–कभी हम उनकें मित्रों की सहायता लेते हैं।"

विद्यालय अवलोकन अनुसूची का विश्लेषण :– इस उपकरण के माध्यम से शोधार्थी ने विशिष्ट शिक्षक–दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अन्तःक्रिया के दौरान मुख्य बिंदुओं को अवलोकित किया–

1. दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों की आवश्यकतानुसार विद्यालयी अवसंरचना पायी।
2. दृष्टिबाधित विद्यार्थियों को ब्रेल और उभरे तथा वास्तविक वस्तुओं का प्रयोग करके शिक्षण कार्य हुआ।
3. श्रवणबाधित विद्यार्थियों को सांकेतिक भाषा, लीप रीडिंग तथा सम्पूर्ण सम्प्रेषण तकनीकी द्वारा शिक्षण कार्य हुआ।
4. दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के विकलांगतानुसार उपयुक्त शिक्षण–अधिगम सामग्रियों का प्रयोग करते हुए शिक्षकों को पाया।
5. विशिष्ट शिक्षक पाठ का प्रस्तुतीकरण व्याख्यान विधि तथा विद्यार्थियों के पूर्व ज्ञान से जोड़ते हुए किया। पाठ के बीच–बीच में कठिन प्रकरणों की शिक्षण–अधिगम सामग्री की मदद से विस्तृत व्याख्या, दुहराव, अंत से सारांश, गृहकार्य आदि देते हुए निर्देश दिया गया।
6. विद्यार्थियों को प्रेरित करना, प्रश्न पूछने का अवसर देना, शंका समाधान, शाब्दिक–अशाब्दिक रूप से कार्यों की प्रशंसा, कक्षा में अनेक गतिविधियों द्वारा शिक्षण–अधिगम कार्य आदि अवलोकित किया गया।
7. कुछ विद्यालयों में पुराने तथा संकीर्ण कक्षा, कम मात्रा में शिक्षण–अधिगम सामग्री, खेल के मैदान तथा कम खेल सामग्री होना, सहायक उपकरणों की कमी भी पायी गई। जिसका कारण शिक्षक–छात्र अन्तःक्रिया में बढ़ पहुँचा और जिसका कारण विशिष्ट शिक्षकों ने फंड की कमी तथा राज्य और केंद्र सरकार द्वारा समय से फंड न मिलना बतायाद्य

निष्कर्ष– प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता हैं कि विशिष्ट शिक्षक–दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अन्तःक्रिया सफल रही और कक्षाओं में दोनों तरफ से विचारों, भावनाओं, क्षमताओं, कौशलों, रुचियों का बड़ा ही व्यावहारिक प्रयोग हुआ और कुछ कमियाँ जो पायी गई उसे विद्यालय प्रशासन, राज्य और केंद्र सरकारों तथा नीति निर्माताओं तथा समाज की भागीदारी द्वारा दूर किया जा सकता हैं। आज बाल केंद्रित शिक्षा पर जोर दिया जा रहा हैंद्य अतः शिक्षक–छात्र अन्तःक्रिया को सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों रूप में अपनाने की आवश्यकता हैं, जिससे सामान्य विद्यार्थियों की तरह विशिष्ट शिक्षक–दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अन्तःक्रिया द्वारा अधिक से अधिक अधिगम स्थायी हो सके।

संदर्भ–सूची :–

1. कौर, एल एण्ड कमाल, जे (2015)– फलन्डर्स इंटरएक्शनअनलिसिस कतेगरी सीस्टम यज ए टोल टीचिंग, इन्टर नैशनल जर्नल ऑफ ऐड्वैन्स्मन्ट इन इंजीनियरिंग टेक्नॉलजी, मनेगेमेंट एण्ड अप्लाइड साइंस पृष्ठ संख्या 62।
2. क्रेसवेल एंड प्लानों (2011)– एजुकेशन रिसर्च, पियरसन इंडिया एजुकेशन सर्विसेज़ प्रा ली नोएडा पृष्ठ संख्या 535।
3. बॉन्ड, जे सी (2011)– द इफेक्ट ऑफ इंटरएक्शन अनालीसिस फीडबैक आन द वरबल बेहैवीयर ऑफ स्टूडेंट्स टीचर्स पृष्ठ संख्या 805–974।
4. फलैन्डर, एन ए (1964) – इंटराएक्शन अनलिसिस इन द क्लाससरूम : स्कूल ऑफ एजुकेशन, यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन, अमेरिका।
5. फारुख, यम यस एंड शहज़ादी (2006)– इफेक्ट ऑफ टीचर्स प्रोफेसनल एजुकेशन आन स्टूडेंट्स अचिवमेन्ट इन मैथमेटिक्स– बुलेटिन ऑफ एजुकेशन एण्ड रेसर्च, 28 (1) पृष्ठ संख्या 47–55।
6. तिवारी, ए आर (2011) – लर्निंग पटर्न ऑफ इंग्लिश यज अ लोकल कंटेन्ट सब्जेक्ट यात एलेमेटरी स्कूल इन सेंट्रल जावा पृष्ठ संख्या 201–233।
7. राय, पारसनाथ (1992)। अनुसंधान परिचय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिशर्स, आगरा।
8. सुमिर, एस – ए (2016)– ए स्टडी ऑफ क्लाससरूम इंटरएक्शन चरेकटेरिस्टिक्स युसिंग फलैन्डर क्लास रूम इंटर एक्शन अनलिसिस इन मैथ क्लास, जर्नल ऑफ हुमंती, साइंस एण्ड एनलिश लैंग्वेज, सत्यम कोली ऑफ एजुकेशन, मोगा।
9. वसु, एस (1992)– टीचिंग कम्यूनिकेशन, अनमोल पब्लिकेशन, नई दिल्दी।
10. निःशक्त जन अधिकार अधिनियम, 2016 प्राप्ति – www.disabilityaffairs.gov.in.

ꕥ★ꕥ

अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक–आर्थिक विकास

(मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले के विशेष संदर्भ में)

इडू सिंह निंगवाल*

डॉ. देवेन्द्र मुझाल्दा**

शोध सारांश :– अनुसूचित जनजातियों की स्थिति को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए उनकी समाजिक एवं आर्थिक स्थिति को सतत व गतिमान बनाए रखना आवश्यक है। इसके लिए किसी एक पक्ष को उच्च अथवा निम्न स्तर प्रदान करना अनुचित प्रतीत होता है। यदि मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले के संदर्भ में देखा जाए तो यहाँ संस्कृति, परम्पराओं, वेशभूषा, खानपान, रीति–रिवाजों और रहन–सहन की व्यवस्थाओं से कही दूर अनुसूचित जनजातियों का एक समुदाय निवासरत है, जो सुख–सुविधाओं से सुसज्जित आधुनिक परिवेश से दूर रहता है, जिसमें जागरूक दृष्टिकोण का अभाव है। जो तकनीकी चकाचौंध से दूर सघन वन क्षेत्रों में अपना जीवन–यापन करता है। इन अनुसूचित जनजातियों के समुदाय के लोग पारिवारिक कार्यों से लेकर सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों में भी अपना कदम आगे बढ़ाते हैं। यह अनुसूचित जनजातियों का समुदाय समाज में अपने मूलभूत अधिकारों को भी सामान्य जातियों को देने की स्वीकृति प्रदान करता है, जो आधुनिक कहे जाने वाले समाज से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है। मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के विकास को चित्रित करते हुए आधुनिक उन्नत व शैक्षणिक रूप से समाज को मुख्यधारा में लाने के लिए उपाय व सार्थक प्रयास करना ही इस शोध का प्रमुख उद्‌देश्य है।

शब्द कुँजी :– सामाजिक, आर्थिक, अनुसूचित, जनजाति, जनसंख्या, विकास, योजना, स्थिति।

मध्यप्रदेश का परिचय :– मध्यप्रदेश भारत का एक राज्य है। इसका कुल क्षेत्रफल 308252 वर्ग किलोमीटर है। जो भारत के कुल क्षेत्रफल का 9.38 प्रतिशत है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह देश का राजस्थान के बाद दूसरा बड़ा राज्य है। मध्यप्रदेश का विस्तार पूर्व से पश्चिम तक 870 किमी क्षेत्र में तथा उत्तर से दक्षिण तक 605 किमी क्षेत्र में फैला हुआ है। इसकी भौगोलिक स्थिति 21°04′ से 26°49′ उत्तरी अक्षांश एवं 74°1′ से 82°48′ पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। मध्यप्रदेश की सीमा 5 राज्यों – छत्तीसगढ़, गुजरात, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र की सीमाओं को स्पर्श करती हैं। जिनमें पूर्व में छत्तीसगढ़, पश्चिम में गुजरात, तथा उत्तर में उत्तरप्रदेश, उत्तर–पश्चिम में राजस्थान तथा दक्षिण में महाराष्ट्र है। मध्यप्रदेश की विधानसभा में अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित सीटों की संख्या 47 है तथा अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित लोकसभा क्षेत्र 6 है। मध्यप्रदेश राज्य में वर्तमान में कुल 52 जिले है। मध्यप्रदेश पूर्णतः चारों ओर से अनेक स्थलों से घिरा हुआ है। इस प्रदेश की सीमा न तो किसी सागरीय सीमा को स्पर्श करती है और न ही किसी अन्तरराष्ट्रीय सीमा को स्पर्श करती है। यह भारत देश के मध्य में स्थित है, इसलिए इसे 'हृदय प्रदेश' भी कहा जाता है। मध्यप्रदेश कृषि प्रधान राज्य है। इसकी राजकीय फसल सोयाबीन होने के कारण इसे 'सोया प्रदेश' के नाम से भी जाना–पहचाना जाता है।

झाबुआ का इतिहास :– 16वीं शताब्दी में स्थापित मध्यप्रदेश राज्य का झाबुआ जिला 'बहादुर सागर' नामक झील के किनारे स्थित है। इस झील के उत्तरी किनारे पर स्थित राजा का महल मिट्‌टी की दीवार से घिरा हुआ है। समुद्री सतह से इसकी ऊँचाई 1171 फिट है। झाबुआ भूतपूर्व मध्य भारत में एक राज्य (रियासत) भी था। इसका क्षेत्रफल 1336 वर्ग मील है। यहाँ की प्रमुख नदी 'अनास' है। यहाँ माही नदी के आसपास के क्षेत्र में कृषि होती थी। यहाँ का 'घाटा' कहलाने वाला पर्वतीय भाग अनुपजाऊ है। यहाँ की प्रमुख उपज

***शोधार्थी, भूगोल–विभाग, माधव विश्वविद्यालय, पिण्डवाड़ा (राजस्थान)।**

****सह–आचार्य, भूगोल–विभाग, माधव विश्वविद्यालय, पिण्डवाड़ा (राजस्थान)।**

मक्का, धान, चना, गेहूँ, ज्वार, कपास आदि हैं। मध्यप्रदेश का झाबुआ जिला जनजाति बाहुल्य जिला है। झाबुआ के प्रथम राजा कसुमार भील जनजाति से थे, जिनकी आज भी पूजा की जाती है। उनके पश्चात 1300 ई. में वहाँ के राजा शुक बने तथा उनका शासन रहा, वे भी भील जनजाति से ही थे। तत्पश्चात झाबुआ में भील रियासत की स्थापना भील जनजाति के सरदार झब्बू भील ने की। उन्होंने झाबुआ में एक किले का निर्माण भी करवाया था। झाबुआ का नामकरण राजा झब्बू भील के नाम के आधार पर ही किया गया है।

प्राचीन समय में झाबुआ का वन क्षेत्र पाँच भागों में विभाजित था, जिसका सबसे बड़ा भाग 'भगोर' रियासत थी। उस समय राजा शुक भील और धोलिया राजपूतों के मध्य सम्बन्ध अच्छे थे। राजा शुक भील ने धोलिया राजपूत सरदार के साथ मिलकर गुजरात के राजा को परास्त कर दिया था, उस समय दिल्ली के बादशाह ने भील राजा शुक के खिलाफ युद्ध छेड़ा था। भारत की स्वतंत्रता के बाद मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले के अंतिम शासक धालीप सिंह ने 15 जून, 1948 को भारतीय संघ में शामिल होने के लिए हस्ताक्षर कर प्रवेश किया और झाबुआ नव निर्मित मध्य भारत राज्य का हिस्सा बन गया, जिसे सन 1956 में मध्यप्रदेश राज्य में सम्मिलित किया गया।

झाबुआ का परिचय :– झाबुआ, मध्यप्रदेश का एक जिला है। इसका मुख्यालय झाबुआ है। मध्यप्रदेश का झाबुआ जिला गुजरात और राजस्थान की सीमाओं को स्पर्श करता है। पश्चिमी मध्यप्रदेश में स्थित झाबुआ जिला गुजरात के दाहोद, राजस्थान के बाँसवाड़ा और मध्यप्रदेश के धार, अलीराजपुर व रतलाम जिलों से घिरा हुआ है। झाबुआ मूलतः अनुसूचित जनजाति वाला आदिवासी जिला है। यहाँ मुख्यतः भील और भीलाला आदिवासी जनजातियाँ निवास करती हैं। यह जिला आदिवासी हस्तशिल्प कला के लिए बहुत अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें खासकर बाँस से बनी वस्तुओं, गुडियों, आभूषणों और अन्य बहुत–सी वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध हैं। अनास नदी यहाँ से बहने वाली प्रमुख नदी है। देवाझिरी, पीपलखूंटा, समोई और तारखेडी आदि यहाँ के प्रमुख दर्शनीय स्थल है। झाबुआ इंदौर से लगभग 150 कि.मी. की दूरी पर है। यहाँ का प्रसिद्ध मेला 'भगोरिया' है। झाबुआ जिला कुल 6 विकास खण्डों – झाबुआ, थांदला, मेघनगर, पेटलावद, रामा और रानापुर से मिलकर बना हुआ है। झाबुआ जिले में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का प्रतिशत सर्वाधिक है।

झाबुआ मध्यप्रदेश राज्य के पश्चिमी छोर पर स्थित हैं, जो एक जिले के रूप में अवस्थित। यह जिला 21°30′ से 23°55′ उत्तरी अक्षांश तथा 73°30′ से 75°01 पूर्वी देशांतर के मध्य फैला हुआ है। यह गुजरात, महाराष्ट्र एवं राजस्थान राज्यों की सीमाओं को स्पर्श करता हैं। झाबुआ जिले का मुख्यालय समुद्र तल से 428 मीटर की ऊँचाई पर बहादुर नामक छोटी–सी झील के किनारे स्थित है। यह जिला उत्तर–पश्चिम में राजस्थान के बारा जिले से पश्चिम में गुजरात के पंचमहल एवं वडोदरा जिले से दक्षिण में महाराष्ट्र के धुले जिले से एवं मध्यप्रदेश के नवनिर्मित बड़वानी जिले (पश्चिमी निमाड़) से पूर्व में धार जिले से एवं उत्तर–पूर्व में रतलाम जिले से घिरा हुआ हैं। दक्षिण दिशा में नर्मदा नदी भी इस जिले की सीमा बनाती हैं। झाबुआ जिले का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 675716 हैक्टेयर है। इसमें से शुद्ध बोया गया क्षेत्र 361879 हेक्टेयर है, अर्थात 53.55 प्रतिशत है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न फसलों का बोया हुआ क्षेत्र है, जिसमें से 16.64 प्रतिशत क्षेत्र में फसलों को एक से अधिक बार बोया गया हैं। इसके अतिरिक्त 130673 हैक्टेयर अर्थात् 19.36 प्रतिशत क्षेत्र वनों से आच्छादित हैं। 16.57 प्रतिशत क्षेत्र कृषि के लिए उपलब्ध है, जिसके अन्तर्गत कृषि योग्य बंजर भूमि भी सम्मिलित हैं। 4.97 प्रतिशत अकृषि भूमि है, जिसके अन्तर्गत घास एवं चरागाह, बाग–बगीचे एवं अन्य वृक्षों से घिरी भूमि सम्मिलित हैं। 4.09 प्रतिशत कृषि योग्य, बंजर भूमि हैं, 1.46 प्रतिशत पड़त भूमि हैं, जिसके अन्तर्गत प्राचीन तथा नवीन पड़त भूमि सम्मिलित हैं।

झाबुआ मध्यप्रदेश का सबसे छोटा जिला है। परन्तु मध्यप्रदेश का आदिवासी बाहुल्य वाला सबसे बड़ा जिला है। झाबुआ जिले का कुल भौगोलिक क्षेत्र 6781 वर्ग किलोमीटर है, जो मध्यप्रदेश का 1.53 प्रतिशत क्षेत्र है। इस सम्पूर्ण जिले की जनसंख्या 667811 है, जिसमें 565705 अनुसूचित जनजाति के लोग

और 18259 अनुसूचित जाति की जनसंख्या है, जो मध्यप्रदेश की कुल जनसंख्या का 1.6 प्रतिशत ही है। पुनर्गठित मध्यप्रदेश में लगभग 96.27 लाख जनजातीय आबादी निवास करती है। यहाँ गौंड और भील जनजातियों की आबादी सर्वाधिक है। ऐसा भी कहा जाता है कि झाबुआ जिला भीलों का जिला है, जहाँ 80 प्रतिशत सिर्फ भील जनजाति का ही निवास है। जनसंख्या की दृष्टि से भील जाति को भारत की सबसे बड़ी जनजाति माना जा सकता है। सभी उप–जातियों सहित भील जनजाति की कुल जनसंख्या लगभग 60 लाख है।

सामाजिक–आर्थिक विकास का अर्थ :– समाजिक एवं आर्थिक को समझने के लिए सर्वप्रथम विकास को परिभाषित करना अति–आवश्यक है। प्रायः एक राज्य में जो सुधार व सकारात्मक बदलाव हो रहे हैं, उन्हें विकास के रूप में परिभाषित किया जाता है। लेकिन विकास की अवधारणा को विभिन्न सन्दर्भों जैसे–सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, जीव विज्ञान, प्रौद्योगिकी, भाषा और साहित्य में अलग–अलग तरीकों से परिभाषित किया जाता है। यहाँ सामाजिक–आर्थिक सन्दर्भ में विकास से अभिप्राय बेहतर शिक्षा, आय वृद्धि, कौशल विकास और रोजगार के माध्यम से लोगों की जीवन–शैली में सुधार लाने हैं। यह सांस्कृतिक और पर्यावरणीय कारकों के आधार पर सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। सामाजिक एवं आर्थिक विकास, समाज में सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के बदलाव की प्रक्रिया है। यह सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी), जीवन प्रत्याशा, साक्षरता और रोजगार के स्तर जैसे संकेतकों से मापा जाता है। अतः सामाजिक–आर्थिक विकास समाज में सामाजिक और आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया है। सामाजिक–आर्थिक विकास को बेहतर तरीके से जानने एवं समझने के लिए, हम सामाजिक और आर्थिक विकास के अर्थ को अलग–अलग करके समझ सकते हैं। जो इस प्रकार है–

सामाजिक विकास :– सामाजिक विकास, वह प्रक्रिया है, जो सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन व बदलाव कर समाज की अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने की क्षमता में सुधार करती है। इसका सम्बन्ध समाज निर्माण में गुणात्मक परिवर्तन, लोगों का प्रगतिशील दृष्टिकोण और व्यवहार, प्रभावी प्रक्रियाओं और उन्नत प्रौद्योगिकी को अपनाने से है।

आर्थिक विकास :– किसी भी देश या क्षेत्र में रहने वाले लोगों के हित में आर्थिक सम्पत्ति के संवर्धन को आर्थिक विकास कहा जाता है। आर्थिक वृद्धि को प्रायः आर्थिक विकास के स्तर का संकेतक माना जाता है। आर्थिक वृद्धि का सम्बन्ध राष्ट्रीय, आय, सकल घरेलू उत्पाद या प्रतिव्यक्ति आय में प्रगति से है। दूसरी तरफ दीर्घकालिक आर्थिक विकास से अभिप्राय है – एक राष्ट्र द्वारा अपने लोगों के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक हितों को पूरा करना है।

भारत में सामाजिक–आर्थिक विकास का उद्देश्य समाज के उन सभी वर्गों का विकास सुनिश्चित करना है, जो आज सम्पन्न वर्ग से बाहर है, उन्हें विकास की प्रक्रिया में भागीदार बनाना हैं। सामाजिक और आर्थिक जीवन में उर्ध्वगामी गतिशीलता के लिए असम्पन्न वर्ग के सभी लोगों के विकास परिणामों तक पहुँच तथा उन्हें समान में अवसर प्रदान करना है। यद्यपि भारत बड़ी तेजी से प्रगति कर रहा है, लेकिन इसका लाभ समाज के उन सभी वर्गों तक पहुँचाने का लक्ष्य अभी प्राप्त किया जाना बाकी है। वर्तमान समय में भी समाज के अनेक ऐसे वर्ग है, जिनके विरुद्ध भेदभाव का व्यवहार होता है तथा उन्हें स्वतन्त्र रूप से विकास की प्रक्रिया में भाग लेने तथा विकास के परिणामों का लाभ उठाने का अवसर प्रदान नहीं किया जाता है। जिसे अभावग्रस्त समूह कहा जाता है, जिसमें अनुसूचित जनजातियों का समूह भी सम्मिलित है। अनुसूचित जनजातियों की स्थिति को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए उनकी समाजिक एवं आर्थिक स्थिति को सतत व गतिमान बनाए रखना आवश्यक है। इसके लिए किसी एक पक्ष को उच्च अथवा निम्न स्तर प्रदान करना अनुचित प्रतीत होता है। यदि मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले के संदर्भ में देखा जाए तो यहाँ संस्कृति, परम्पराओं, वेशभूषा, खानपान, रीति–रिवाजों और रहन–सहन की व्यवस्थाओं से कही दूर अनुसूचित जनजातियों का एक समुदाय निवासरत है, जो सुख–सुविधाओं से सुसज्जित आधुनिक परिवेश से दूर रहता है, जिसमें जागरूक दृष्टिकोण का अभाव है। जो तकनीकी चकाचौंध से दूर सघन वन क्षेत्रों में अपना

जीवन–यापन करता है। इन अनुसूचित जनजातियों के लोग पारिवारिक कार्यों से लेकर सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों में भी अपना कदम आगे बढ़ाते हैं। यह अनुसूचित जनजातियों का समुदाय समाज में अपने मूलभूत अधिकारों को भी सामान्य जातियों को देने की स्वीकृति प्रदान करता है, जो आधुनिक कहे जाने वाले समाज से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है। मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक–आर्थिक विकास हेतु आधुनिक व शैक्षणिक रूप से इस समुदाय को मुख्यधारा में लाने हेतु उपाय व सार्थक प्रयास करना मध्यप्रदेश शासन का प्रमुख उद्देश्य है।

अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु प्रयास :– अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु मध्यप्रदेश शासन द्वारा किए जा रहे प्रयासों में उनके लिए रोजगार के अवसरों का सृजन कराना, झुग्गी बस्ती में रहने वालों के आवास हेतु मकानों का निर्माण कराना, कृषि कार्य हेतु न्यूनतम ब्याज पर लोन उपलब्ध कराना, अनुसूचित क्षेत्रों में स्कूल भवनों का निर्माण कराना, ग्रामीण खेलों को बढ़ावा देना, निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था कराना। उच्च शिक्षा हेतु निःशुल्क शिक्षा लोन उपलब्ध कराना, उन्नत कृषि यंत्रों का निर्माण कराना, उन्न्त कृषि बीजों को उपलब्ध कराना, ग्रामीण गैर–कृषि गतिविधियों को बढ़ाना, नवीकरणीय स्त्रोतों की स्थापना कराना, गैर–परम्परागत स्त्रोतों की स्थापना कराना। सिंचाई संसाधनों का विकास कराना, अनुसूचित क्षेत्रों में चिकित्सा शिविर लगवाना, अनुसूचित क्षेत्रों में स्वास्थ्य कार्यक्रमों का आयोजन कराना, परिवार कल्याण और टीकाकरण हेतु जागरूक कराना, महिलाओं को सहायक सेवा तथा उत्पादक कार्यों में संलग्न कराना, मृदा एवं जल संरक्षण हेतु उपाय बताना, महिलाओं और बच्चों को गैर–औपचारिक शिक्षा प्रदान कराना तथा साक्षर कराना, पारिस्थितिकी सुधार पर विशेष ध्यान आकर्षित कराना, भूमि विकास और बंजर भूमि के सुधार हेतु कार्य कराना, ग्राममार्गों और सड़कों का निर्माण कराना तथा उन्हें राजमार्गों से जोड़ना आदि कार्य मध्यप्रदेश शासन द्वारा अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु किए जा रहे है। जिससे मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों का भी सामाजिक एवं आर्थिक विकास हो रहा है।

अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु योजनाएँ :– मध्यप्रदेश शासन द्वारा कमजोर वर्ग के लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु अनेक योजनाओं को संचालित कर लागू किया गया हैं, जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों को भी उन योजनाओं का लाभ मिल रहा है, जिससे मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक–आर्थिक विकास हो रहा है, वे योजनाएँ निम्न हैं–

आचार्य विद्या सागर गौसंवर्धन योजना :– आचार्य विद्या सागर गौसंवर्धन योजना का मुख्य उद्देश्य दुग्ध उत्पादन में वृद्धि करना, हितग्राहियों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में सुधार लाना, प्रति व्यक्ति दुग्ध उपलब्धता सुनिश्चित करना आदि है। यह योजना बैंक ऋण पर आधारित है, इस योजना में उन्नत नस्ल के पशु प्रदेश के बाहर से खरीदे जाते है। इस योजना के अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों द्वारा 5 से 10 दुधारू पशुओं जैसे – गाय, भैस, बकरी के लिए आवेदन किया जाता हैं। इस योजना द्वारा मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक–आर्थिक विकास हो रहा है।

मुख्यमंत्री अन्नपूर्णा योजना :– सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत मुख्यमंत्री अन्नपूर्णा योजना में पात्र परिवार ए.ए.वाय. एवं प्राथमिक परिवार बी.पी.एल. तथा अन्य 24 श्रेणियाँ जिनमें अनुसूचित जनजातियाँ भी सम्मिलित है, को झाबुआ जिले में उचित मूल्य की दुकानों के माध्यम से उनके सामाजिक–आर्थिक विकास हेतु नियमित रूप से खाद्यान्न का वितरण प्रतिमाह पी.ओ.एस. मशीन के माध्यम से किया जा रहा है। इससे भी मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक–आर्थिक विकास हो रहा है।

बैंक ऋण एवं अनुदान योजना :– बैंक ऋण एवं अनुदान योजना का प्रमुख उद्देश्य गाँवों की देशी बकरियों की नस्ल में सुधार लाना तथा हितग्राहियों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में सुधार लाना, माँस तथा दुग्ध उत्पादन में वृद्धि करना हैं। यह योजना बैंक ऋण एवं अनुदान पर आधारित है। इस योजना की कुल लागत में अनुसूचित जनजातियों को सरकार द्वारा उनके सामाजिक–आर्थिक विकास हेतु 60 प्रतिशत का विशेष अनुदान दिया जा रहा है। इस अनुदान योजना द्वारा भी मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक–आर्थिक विकास हो रहा है।

मुख्यमंत्री सोलर पम्प एवं पीएम कुसुम योजना :– मुख्यमंत्री सोलर पम्प योजना एवं पीएम कुसुम योजना के अन्तर्गत किसानों को सिंचाई हेतु सौर ऊर्जा से चलने वाले सोलर पम्प उपलब्ध करवाए जाते हैं। इस योजना में 1 एच.पी. से 7.5 एच.पी. तक का सोलर पम्प दिया जाता हैं। इस योजना में अनुसूचित जनजातियों के वे सभी किसान आवेदन कर सकते हैं, जिन्होंने स्थाई विद्युत कनेक्शन नहीं लिया हो या सोलर पम्प लगाने के पश्चात स्थाई विद्युत कनेक्शन कटवाने के लिए प्रार्थना पत्र दिया हो। इस योजना में पात्र बनकर भी अनुसूचित जनजातियों के लोगों का सामाजिक–आर्थिक विकास किया जा रहा है। इस योजना द्वारा भी मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक–आर्थिक विकास हो रहा है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय विधवा पेंशन योजना :– भारत सरकार, ग्रामीण विकास मंत्रालय के ग्रामीण विकास विभाग द्वारा राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (एन.एस.ए.पी.) के अन्तर्गत गरीबी रेखा से नीचे जीवन–यापन करने वाली विधवा महिलाओं को सामाजिक–आर्थिक सहायता प्रदान करने हेतु इंदिरा गांधी राष्ट्रीय विधवा पेंशन योजना संचालित की जा रही है। इस योजना का क्रियान्वयन एवं संचालन मध्यप्रदेश शासन के सामाजिक न्याय एवं निःशक्त जनकल्याण विभाग द्वारा किया जा रहा है। इस योजना में भी मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों की विधवा महिलाएँ पात्र बनकर अपना सामाजिक–आर्थिक विकास कर रही है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक–आर्थिक विकास हेतु विशेष प्रावधानों और सुरक्षा उपायों का भारतीय संविधान में प्रदान किया गया है। कुछ विशेष पहल भी जनजातीय उप योजना (टीएसपी) रणनीति सहित, भारत सरकार एवं मध्यप्रदेश शासन एवं मध्यप्रदेश राज्य अनुसूचित जनजाति आयोग द्वारा की गई हैं। जनजातीय उप योजना (टीएसपी) रणनीति का निर्माण अनुसूचित जनजातियों के लोगों का तेजी से सामाजिक–आर्थिक विकास करने के उद्देश्य से किया गया है। इस प्रकार भारत सरकार, मध्यप्रदेश शासन एवं मध्यप्रदेश राज्य अनुसूचित जनजाति आयोग द्वारा ऐसी अनेक योजनाओं को लागू किया गया हैं, जिसके द्वारा मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अनुसूचित जनजातियों का सामाजिक–आर्थिक विकास हो रहा है। इन योजनाओं की पात्रता हेतु सरकारी संस्थाओं को सर्वाधिकार दिया गया है।

संदर्भ–ग्रंथ–सूची :–

1. मध्यप्रदेश के आदिवासी, जनगणना रिपोर्ट, भोपाल, 2011।
2. जिला जनगणना पुस्तिका, जिला झाबुआ, मध्यप्रदेश, अंक–13, 1991।
3. श्यामाचरण दुबे, आदिवासी भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2020।
4. सामाजिक–आर्थिक विकास, क्रोनीकल पब्लिकेशन, नोएडा, उत्तरप्रदेश, 2021।
5. डॉ. श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाज, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2016।
6. प्रशासकीय प्रतिवेदन वर्ष 2020–21, मध्यप्रदेश शासन, वन्या प्रकाशन, कानपुर, 2020।
7. हरीश कुमार खत्री, मध्यप्रदेश का शासन और राजनीति, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, 2019।
8. डॉ. बीना भूरिया, भीलाँचल में मानवाधिकार, नाकोड़ा ग्राफिक प्रकाशन, मेधनगर, झाबुआ, 2006।
9. अजय सिम्हा ऋस्थौरा, भील जनजाति, शिक्षा और आधुनिकता, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1994।
10. डॉ. दीक्षित कुमार ध्रुव, समाजशास्त्र : अनुसूचित जनजाति, शिवलाल अग्रवाल व कंपनी, इंदौर, 2014।
11. मध्यप्रदेश की अनुसूचित जनजातियाँ, आदिम जाति अनुसंधान एवं विकास संस्था, मध्यप्रदेश शासन, भोपाल, 2020।
12. डॉ. शर्मा, डॉ. सुरेन्द्र सोलंकी एवं अन्य, मध्यप्रदेश जिला दर्शन एवं सामान्य ज्ञान, उपकार प्रकाशन, आगरा, 2017।
13. सामाजिक आर्थिक विकास तथा अभावग्रस्त समूहों का सशक्तीकरण, क्रोनीकल पब्लिकेशन, नोएडा, उत्तरप्रदेश, 2020।
14. सुरेन्द्र परिहार एवं अशोक प्रधान, भारत में जनजातीय विकास के पाँच दशक, योजना प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2001।
15. अनुसूचित जाति एवं जनजाति कृषक प्रशिक्षण योजना : प्रभाव ऑकलन, सुशासन एवं नीति विश्लेषण स्कूल (मध्यप्रदेश शासन की स्वशासी संस्था), भोपाल, 2011।

★

Women’s Political Participation in India

Dr. Kiran Jha*

Abstract :- This paper asserts that despite progress in recent decades, women are still underrepresented in political decision-making and leadership positions in India. It explores various aspects of women's political participation, the barriers to such participation and the strategies needed to increase their involvement in politics. It posits that in recent years, progress has been made in increasing women's political participation but there is still a long way to go to achieve gender parity in politics.

Keywords :- Political participation, electoral politics, gender inequality, patriarchy, Parliament.

Women's political participation is an essential component of democracy and a crucial aspect of achieving gender equality. Despite progress in recent decades, women are still underrepresented in political decision-making and leadership positions globally. This paper will explore various aspects of women's political participation, the barriers to such participation and the strategies needed to increase their involvement in politics.

Historically, women have faced significant barriers to political participation. In many countries, women were denied the right to vote until the early twentieth century. Even after gaining suffrage, women continued to face discrimination, harassment, and violence when seeking to engage in politics. Political parties often excluded women from leadership positions, and women's issues were often ignored or relegated to the periphery of political discourse. These barriers have contributed to the persistent gender gap in political representation.

In recent years, progress has been made in increasing women's political participation. Many countries have introduced quotas, reserved seats, and other affirmative action policies to ensure greater representation of women in politics. These measures have been successful in increasing the number of women in parliament, local councils, and other decision-making bodies. However, such policies are often met with resistance, and the number of women in senior political positions remains low.

In India, the Swadeshi movement in Bengal (1905-1908) first saw women participating in the national freedom struggle and brought to the fore the issue of voting rights for women. Between 1920-1930, limited suffrage rights were granted to women in different regions of the country. The Government of India Act 1935, extended these rights to a larger number of women but it was still impeded by qualifications like literacy, payment of taxes, length of residence, property ownership or marriage to propertied men. It also reserved seats for women in the provincial legislation as well as limited reservations for them in the central legislature. When elections were held in 1937, 80 women won their seats to become legislators (Rai 2011: 49). Thus, electoral participation of women was established during the nationalist movement. This was aided by the progressive ideas of the political leadership of those times, including Mahatma Gandhi who played an important role in providing an impetus to women’s participation in the freedom struggle and insisted that women’s equality was a fundamental part of the movement (Kishwar 1996:2868).

The ideals of liberty, equality and justice enshrined in the Constitution grant equal status and gender equality to the women of our country. The main indicators that determine the status of

---

*** Associate Professor, Department of Social Work, CSJMU, Kanpur**.

women in a society are political participation, representation and a share in the decision-making process both in the domestic sphere and in the administrative bodies. Ignoring women in the political process will result in skewed policies that reflect only the male perspective (Khanna 2009: 55). After independence even though the constitution did not reserve seats for women, their progress in the political arena has been steady.

Political participation has been defined as a citizen's active involvement with public institutions, which include voting, candidacy, campaigning, occupying political office and lobbying individually or through membership in a group (Arora 1999: 112) In a narrow sense, it covers women's participation in electoral politics. Political participation of women across all the states in India has been increasing over the years. The woman voter by casting her vote formally expresses her choice of political parties, representatives and broad governmental policies. This phenomenon of higher voting trends among women is also seen in the traditionally backward states of north India. This indicates a rising political empowerment among women. Women voters comprise a significant share in the electoral process of a representative democracy (Gleason 2001: 118).

According to Kapoor and Ravi (2014: 67), research over the years shows persistent gender inequality in the areas of health, education, labour force participation and political representation. But there is a reduction in gender inequality when voter turnout is analyzed in the last few general elections. This is even more remarkable when viewed in the light of the fact that there is no top-down policy action in this regard but it has resulted due to the voluntary participation of the female voters.

The 2014 general elections saw a significant increase of eligible voters. The first-time voters who formed over 12 per cent of the electorates had a considerable impact on the final result of the elections. Another interesting trend was the voters' rejection of caste and religious affiliations while casting their vote. Instead, they were motivated by issues of corruption and development thus indicating their disenchantment of a politics which banked on social chasms. A strong charismatic and inspirational leader at the Centre was another consideration among the voters as opposed to the qualities of the candidates from their local constituency. It seems that finally there was an attempt to vote for issues that affect the quality of people's lives (Agarwal 2014: 71-72).

Political participation encompasses an array of activities, including voting, campaigning, attending and organizing public meetings and rallies, joining political parties, contesting elections and holding office. Some authors even include activities such as strikes, demonstrations, mass movements or any act designed to subvert the political system as political participation. It is therefore a complex phenomenon and depends upon many factors like interest in politics and political affairs, education, occupation, income, and family background (Khanna 2009: 59). In general, higher education and higher socio-economic status provide greater access to political participation. However, the last few general elections in India reveal that voter turnout is higher in rural areas than in the urban centers.

Women's political participation in India has made significant progress in recent decades, but there is still a long way to go to achieve gender parity in politics. Women's representation in the Indian parliament, for example, has increased steadily since independence, but it still falls short of the global average.

The first Lok Sabha, the lower house of the Parliament, had 22 women, the second had 27, while the third had 34. The fourth saw a decline with 31 members, fifth had 22 members, and the sixth sent only 19 women to the Parliament. The seventh general elections showed an increase to 28 members, which grew to 44 in 1984. The nineth general elections saw 28 women in the Parliament, 39 in the tenth, 40 in the eleventh, rising to 44 in the twelfth, 49 in the thirteenth and 45 in the fourteenth Lok Sabha (Naraain et al 2007: 71). The sixteenth and seventeenth general elections saw a rise in the number of elected women members of Parliament with the numbers going up to 62 and 78 respectively.

In the current Lok Sabha, for which elections were held in 2019, women account for over 14% of the members. This steady increase, when compared to the global average of 25%, is still quite low. Women's representation in the Rajya Sabha, the upper house of the Parliament, is slightly better, with women making up 22% of members. While the number of women elected to the Parliament over the years has been growing, progress has been slow, and women continue to be underrepresented in the highest levels of political leadership.

Let us now look at the electoral participation of women in terms of legislative bodies. In 1988, the National Perspective Plan for Women recommended reservation for women at all levels of electoral bodies. This led to one of the most significant measures, that is, the introduction of reservations for women in local government bodies through the 73rd and 74th Constitutional Amendments in 1992. These reservations have been successful in increasing the number of women in local government, with women now accounting for more than one-third of elected representatives in rural and urban local bodies. In 1995, the question of reservation for women in Parliament was raised, but this has not been achieved. Women's participation in the Parliament continues to be low even though the last general election saw the highest number of women elected to the Parliament (Rai 2011:50). The reason for improved electoral performance could be attributed to growing education and awareness among women regarding their political rights and their responsibility as voters. Another reason is the realization among women that their vote matters (Rai 2011: 51). In addition, political parties have also increased their efforts to recruit and promote women candidates. The rise of women-led political parties has also provided new avenues for women's political participation.

As far as voter turnout is concerned, it needs to be noted that voting is higher among women in rural areas than in urban centres. Low turnout during elections in cities is a common phenomenon in India, and this is also seen among women. There is also a geographical disparity. Southern and eastern regions of the country have more participation compared to the northern and western states (Rai 2011:53). Increased participation of women in elections as voters on the one hand and sharing of power at the grass root level reveal that electoral politics in India is moving towards being gender inclusive.

Societal and cultural norms are important factors that impede women's political participation. Traditional gender roles and stereotypes often reinforce the idea that politics is a male-dominated field. Patriarchy also acts as an impediment to women's participation in electoral politics, often discouraging them from pursuing political careers. Additionally, women often have less access to education, training, and resources to support their political ambitions. The lack of female role models and mentors in politics also contributes to the underrepresentation of women in the political arena. Limited knowledge of electoral politics, restricted support from family and inability to mobilize resources are some of the other reasons responsible for lower number of women contesting and winning elections (Rai 2011:51).

To increase women's political participation, it is essential to address these systemic barriers. Education and training programs that equip women with the skills and knowledge to participate in politics are critical. Efforts to address gender stereotypes and promote women's leadership should also be prioritized. Strategies to increase women's access to resources, such as funding, information, and networking opportunities, can also help women overcome the challenges they face.

It is crucial to foster a political culture that is inclusive and supportive of women's participation. Political parties must actively recruit and promote women candidates, and gender balance should be a priority in candidate selection. Women's issues and perspectives must be integrated into policy discussions and decision-making processes. Women's participation in politics should also be celebrated and recognized, and women in political leadership should serve as role models and mentors for future generations of women.

In conclusion, women's political participation is essential to building more inclusive and democratic societies. While progress has been made in increasing women's political participation in India, there is still a long way to go to achieve gender parity in politics Social and cultural norms, as well as discrimination and harassment, continue to limit women's participation in politics. However, measures such as reservations for women in local government and quotas for women in state assemblies and parliament have been successful in increasing women's representation in politics. To further increase women's political participation, efforts to address systemic barriers, promote gender equality, and provide greater access to resources and opportunities for women are essential. However, despite these challenges, there have been significant efforts to increase women's political participation in India.

References :-

1. Agarwal, Pulkit. 2014. "The 2014 Indian General Elections," in World Affairs: *The Journal of International Issues,* Vol. 18, No. 4, pp. 70-85.
2. Arora, Banarasi. 1999. "Women in Politics: Governance in Patriarchal and Non-Participatory Culture," in *Guru Nanak Journal of Sociology,* Vol. 20, No. 1-2, pp. 111-118.
3. Basu, D. D. 1998. *Introduction to the Constitution of India.* New Delhi: Prentice-Hall of India. Gleason, Suzanne. 2001. "Female Political Participation and Health in India," in *Annals of the American Academy of Political and Social Science,* Vol. 573, No. 1, pp. 105-126.
4. Kapoor, Mudit and Shamika Ravi. 2014. "Women Voters in Indian Democracy: A Silent Revolution," in *Economic and Political Weekly,* Vol. 49, No. 12, pp. 63-67.
5. Khanna, Manuka. 2009. "Political Participation of Women in India," in *The Indian Journal of Political Science,* Vol. 70, No. 1, pp. 55-64.
6. Kishwar, Madhu. 1996. "Women and Politics: Beyond Quotas," in *Economic and Political Weekly,* Vol. 31, No. 43, pp. 2867-2874.
7. Narain, Yogendra, S. N. Sahu and L. Lakshmi. 2007. "Political Empowerment of Women," in Lalneihzovi (ed), *Women's Development in India-Problems and Prospects,* New Delhi, Mittal Publications, pp.67-74.

Trend Analysis of Educational Researches Done From Year 2010 to 2015 in FOE, BHU

Dr. Vandana Sharma*

Dr. Harish Pandey**

Abstract*:* *Researches may play an important role in the development of any Nation, if done properly and in a right direction. Researches should fulfil the needs of the society and helpful to solve the contemporary issues and problems. Before selecting the research topic, it is important to know about the present status of researches and developments in that particular area or subject which belongs to researcher. Investigators try to know the current issues and needs of the society. For this we do 'review of literature'. In doing review of literature we face many problems and it takes a lot of time. Keeping those problems in mind we tried to give a database of researches by analysing the trend of researches. Since trend analysis of researches gives us information about the prevalence of researches in that particular duration. Trend analysis of researches gives us a clear picture of areas which were more focused and which were neglected or less focused. Trend analysis also helps in policy making and gives feedback about the quality of researches. In this paper, the investigator will discuss about the trend of PhD theses from 2010 to 2015 done in Faculty of Education of Banaras Hindu University, Varanasi on the basis of information collected from the self-made checklist which has four parts and 24 dimensions*.

Keywords:- *Trend analysis, Educational researc.*

Background of the Study:- Education is the most important factor of the growth and development of any individual as well as any society or country. Education is a significant apparatus that is applied in the contemporary world to succeed, as it mitigates the difficulties which are looked throughout everyday life. The information increased through education empowers person's capability to be ideally used inferable from preparing of the human personality. This opens entryways of chances and empowers individual to accomplish better prospects in profession development. Education is a human right and it plays a vital role in the development of any country whether it is economically, socially or emotionally. Education in Universities is more than a high level in the learning procedure; it is a basic segment of human improvement around the world. It gives not just the significant level abilities important for each work showcase yet, in addition, the preparation fundamental for instructors, specialists, medical caretakers, government employees, engineers, humanists, business people, researchers, social researchers, and a horde of other faculty. The most significant job they have been allotted is the creation of exceptionally talented labour and research yield to meet apparent targets. The research draws its capacity from the way that it is empirical: as opposed to simply guessing about what may be powerful or what could work. Researches give facts and information to policymakers on which they can base their choices. Besides, great research uses philosophies that can be repeated, produces results that are examinable by peers, and makes information that can be applied to true circumstances. Researchers fill in as a group to upgrade our insight into how to best address society's needs and issues. Before selecting the topic of research, the researcher must know about the researches done in the interest area of the researcher. To work on a significant and relevant issue, the researcher does review of literature in that particular field. Due to lack of a complete database which may give information of all the researches done in an institution, faculty or department, researchers face many problems. It takes a lot of time to find that -what related researches are done and what type of researches are not done,

*** Ex Senior Research Fellow, Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi, India.**
****Assistant Professor, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha, India.**

what issues or variables are considered and what are neglected in researches in a particular area etc. Trend of researches helps in review of literature, gives feedback to policymakers and administrators, and tells about the quality of researches extra. Trend analysis offers insights for researchers into how they can develop their research effectively in the particular field and enhance the chances of their research outputs being accepted.

Gupta & Koul (2007) has done a trend study entitled as '*Research studies on creativity in India since 1990(A trend analysis)'.* This study was aimed to find the trends in researches in the context of some variables as- year of publication, type of creativity, setting of research, scope of sample, tests used extra. Karatas, Sercin (2008) has done a trend analysis on internet based distance leraning researches and revealed the trends of these researches with respect to topic, method, data collection tool, statistical techniques used for data analysis, used software, country where study was conducted and other variables. Kurup and Arora (2010) studied the *Trends in Higher Education* and have given a holistic view on the characteristics of doctoral degrees obtained by individuals in various areas across 10 years (1998-2007). As per the information provided by National Institutional Ranking Framework (NIRF, 2018), MHRD the Banaras Hindu University has one of the best education institutions in India and the standard of education is considered to be very high compared to many other Universities in the country. Kumar (2015) in his dissertation has done a trend analysis of Ph.D. theses completed in Faculty of education of Banaras Hindu University during the year 1971 to 2014 with reference to some limited variables. Egmir, Erdem & Kocyigit (2017) has done a trend study entitled as *'Trends in Educational Research: A Content Analysis of the Studies Published in International Journal of Instruction'* in Turkey. The study was aimed to analyze the trends of researches with respect to countries where study was conducted; number of author in study; topic of the study; research method & design; data collection technique; data analysis technique; sampling technique; sample size and sample type . Keeping all above facts and views in mind, in this paper researcher wants to specifically provide an empirical answer of the question that, **what is the Trend of Researches in Faculty of Education, Banaras Hindu University?** This paper is a part of PhD work of the researcher which is entitled as "A Trend Analysis of Ph.D. Theses Completed till 2016 in Faculty of Education of Different Universities of Varanasi." Before discussing the core part of the paper we should know about some key words, which are as follows-

Trend Analysis: The trend analysis is an interesting application of the descriptive method. In essence, it is based on a longitudinal consideration of recorded data indicating what has been happening in the past, what the present situation reveals, and, on the basis of these data, what is likely to happen in future. Trend is the practice of collecting information and attempting to spot a pattern, or prevalence in the information.

Educational Researches: Educational research is the study and investigation in the field of education. In this paper educational research refers to researches done at PhD level in Faculty of Education of BHU.

To arrive at the adequate result the following objectives are framed-

Objectives of the study:- To identify the trend of researches in faculty of education BHU during the year 2010 to 2015 with respect to type of research, method, gender of researcher, time span and other some specific probe.

Variables studied in this paper:- From the checklist following variables are studied and discussed under this research paper-

- **Type of Research:** This variable is divided into two groups – Basic and Applied. In this paper Basic research refers to those researches which develop new knowledge, module, theory, method or any tool and Applied research refers to those researches which studies relationship and applicability of theories and principal to the solution of a problem.

- **Method of Research:** This variable is divided into four group i.e. historical research, Descriptive, Experimental and Philosophical research.
- **Gender of Researcher:** This variable contains two groups male and female.
- **Time Span:** To find the trend about the year of submission of theses during the year 2010 to 2015, the time is divided into three slots i.e. 2010-2011, 2012-2013 and 2014-2015.
- **Use of Unnecessary Theory:** The researcher found that in many thesis unnecessary theories was written specially in the third chapter which is design or methodology of research. This variable divided into two groups- the theses in which unnecessary theories was written or used and the other in which unnecessary theories was not written or used.
- **Region:** This variable refers to geographical region where the study was done or sample was taken. The researcher divided it into four parts- Varanasi, other city/cities, other country and the researches in which this delimitation is not applicable.
- **Rationale behind adopted Statistical techniques**: This variable refers to the rationale behind use of particular statistical technique for data analysis and whether the rationale given or not given before using that technique. The researcher divided this variable into three groups- given, not-given and not needed.
- **Level of Institution:** This variable refers to the institution which belongs to the research or on which the research was done.

Hypothesis:- The following null hypotheses were tested in this study at 0.05, level of significance -

$H_0$1: The proportion between basic research and applied research is same.

$H_0$2: The proportion between male and female researcher is same.

$H_0$3: The proportion between the two groups of unnecessary theory is same.

$H_0$4: The proportion among number of researches in different time span is same.

$H_0$5: The proportion among different group of rationale behind adopted Statistical techniques is same.

$H_0$6: The proportion among different method of research used is same.

$H_0$7: The proportion among number of researches done in different region is same.

$H_0$8: The proportion among number of researches done on different level of institution is same.

Design of the Study

Method: Descriptive Trend Analysis method is used for this study. The trend study points to conclusions reached by the combined method of Historical and Descriptive analysis (Best and Kahn, 1995, p112).

Population: All Researches (theses) have done from year 2010 to 2015 in FOE, BHU. Varanasi (India).

Sample and sampling Technique: This study is a population study because in order to know the trend of doctoral research, researcher needs to assess all the Ph.D. theses (i.e. 110 theses) done from year 2010 to 2015 in Faculty of Education, BHU.

Tool used: A self made tool 'checklist for Trend analysis of Ph.D. theses in Education' was used for data collection. Tool contains following four parts and 24 dimensions or variables under these parts-

Part A: Initial Information

Part B: Types & Area of Research

Part C: Methodology

Part D: Some other Specific Probe

Statistical techniques used: For the analysis of collected data the researches has used chi-square for hypothesis testing and pie-chart, bar graphs for other analysis. The trends of researches will found on these techniques of data analysis.

Limitations: From year 2010 to 2015 many researches are not available in the library catalogue and desk also due to some maintenance problem, thus absence of those research documents is a limitation for this study.

Analysis and interpretation: Hypothesis testing was done on 0.05, level of significance. The table for all the null hypotheses and their result are discussed below-

$H_0$1: The proportion between basic research and applied research is same.

Table -1 shows the proportion between basic research and applied research with chi-square

S.No.	Category	fo	fe	chi-square	Table Value	Result
1	Basic	5	55			
2	Applied	105	55	90.90	3.841	Different proportion/Significant
	Total	110				

At 0.05 level of significance with degree of freedom 1 [df= (2-1) (2-1)] the calculated chi-square value (90.909) is greater than table value (3.841), therefore null hypothesis i.e. *The proportion between basic research and applied research is same*, has been rejected. The above statistical analysis shows that there is unequal number of different type of researches (i.e. basic and applied research), have been submitted in the Faculty of Education(FOE) of Banaras Hindu University(BHU) from year 2010-2015.

$H_0$2: The proportion between male and female researcher is same.

Table -2 shows the proportion between male and female researcher with chi-square

S.No.	Category	fo	fe	chi-square	Table Value	Result
1	Male	64	55			
2	Female	46	55	2.94	3.841	Same proportion/Not-significant
	Total	110				

At 0.05 level of significance with df=1 , the calculated chi- square value (2.945) is smaller than table value (3.841), therefore null hypothesis i.e. *The proportion between male and female researcher is same*, has not been rejected. It interprets that there is no significant difference between the male and female researcher in FOE, BHU during the year 2010-2015.

$H_0$3: The proportion between the two groups of unnecessary theory is same.

Table: 3 shows the proportion between the two groups of unnecessary theory and chi-squre description

S.No.	Category	fo	Fe	chi-square	Table Value	Result
1	Written	20	55			Different
2	Not- written	90	55	44.54	3.841	proportion/Significant
	Total	110				

At 0.05 level of significance with df=1, the calculated chi- square value (44.545) is greater than table value (3.841), therefore null hypothesis i.e. *The proportion between the two groups of unnecessary theory is same*, has been rejected. It interprets that there is unequal number of thesis in which unnecessary theory is written or not written in FOE, BHU during the year 2010-2015.

- These entire of hypotheses (H01-H03) was based on three different categories. If we consider the above observed frequencies for basic and applied research, male and female and use of unnecessary theory, only male female category was distributed in the same proportion. From figure 1, it is clear that out of 110, 105 theses were applied in applied nature. Only 46 researchers were female and unnecessary theses were used in chapters of only 20 theses while 90 were free from this negativity.

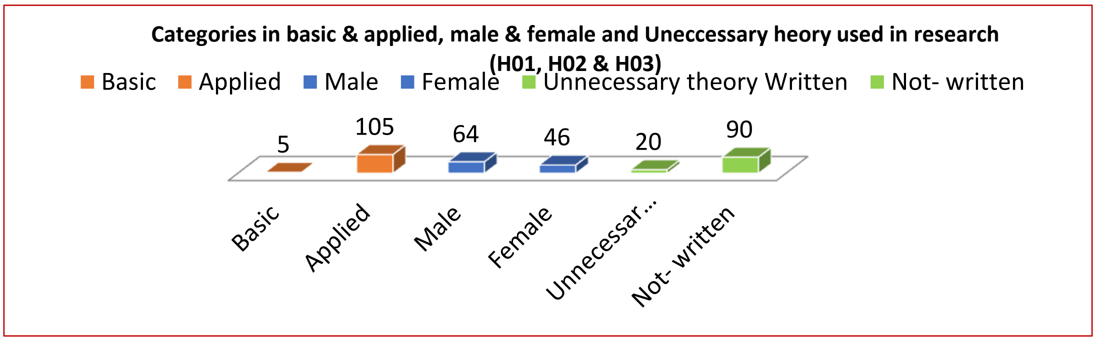

Figure 1: Observations on basic & applied, male & female and unnecessary theory used

$H_0$4: The proportion among number of researches in different time span is same.

Table: 4 shows the proportion among number of researches in different time span with chi-square

S.No.	Category (year)	fo	fe	chi-square	Table Value	Result
1	2010-2011	23	36.67			
2	2012-2013	27	36.67			Different
3	2014-2015	60	36.67	22.48	5.991	proportion/Significant
	Total	110				

At 0.05 level of significance with df = 2, the calculated chi- square value (22.488) is greater than table value (5.991), therefore null hypothesis i.e. *The proportion among number of researches in different time span is same*, has been rejected. This shows that the number of researches submitted in different time span in FOE, BHU during the year 2010 – 2015, are different.

$H_0$5: The proportion among different group of rationale behind adopted statistical techniques for data analysis is same.

Table: 5 Shows the proportion among different group of rationale behind adopted statistical techniques for data analysis with chi-square

S.No.	Category	fo	fe	chi-square (X^2)	Result
1	Given	6	36.67		
2	Not-given	100	36.67	164.13	Different proportion/Significant
3	Not-needed	4	36.67		
	Total	110			

At 0.05 level of significance with df = (3-1) (2-1) or 2, the calculated chi-square value (164.13) is greater than the table value (5.991). This can be interpreted as the null hypothesis i.e. *The proportion among different group of rationale behind adopted statistical techniques for data analysis is same,* has been rejected. The above statistical analysis shows that there is unequal number of researches done in which rationale of statistical technique is given, not-given or not-needed, submitted in FOE, BHU during the year 2010-2015.

❖ These entries for hypotheses (H04& H05) both were based on three different categories. If we consider the above observed frequencies for time span and statistical techniques used every category and its subcategory was not same in proportion as the hypothesis were rejected. . From figure 2, it is clear that out of 110 theses 23, 27 and 60 researches were done in years 2010-11, 2012-13and 2014-15 also rationale behind use of statistical techniques was given clearly in 100 thesis while 6 has no information given clearly followed by 4 has no basic need to mention the rationale for statistics used in research.

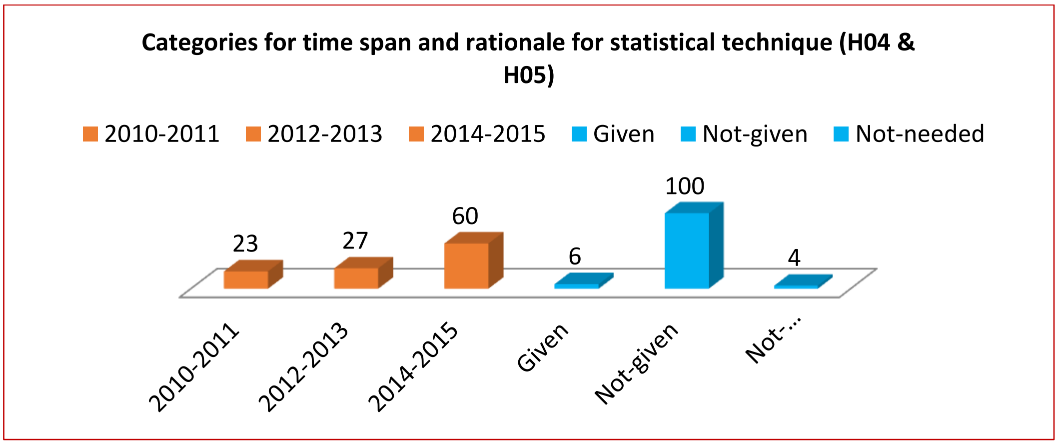

Figure 2 Shows the Categorization for time span and rationale behind statistical techniques for (H04&H05)

H_06: The proportion among different method of research used is same.

Table: 6 shows **t**he proportion among different method of research used with chi-square

S.No.	Category	fo	fe	chi-square	Table Value	Result
1	Historical	1	27.5	242.9	7.815	Different proportion/ Significant
2	Descriptive	98	27.5			
3	Experimental	10	27.5			
4	Philosophical	1	27.5			
	Total	110				

At 0.05 level of significance with df=3, the calculated chi- square value (242.945) is much greater than table value (7.815), therefore the null hypothesis i.e. *The proportion among different method of research used is same*, has been rejected. The above statistical analysis shows that there is unequal number of researches done with different research method in FOE, BHU from year 2010 to 2015.

H_07: The proportion among number of researches done in different region is same.

Table: 7 shows **t**he proportion among number of researches done in different region with chi-square

S.No.	Category	fo	fe	chi-square	Table Value	Result
1	Varanasi	51	27.5	65.49	5.991	Different proportion/Significant
2	Other city/ cities	46	27.5			
3	Other Country	10	27.5			
4	Not-Applicable	3	27.5			
	Total	110				

At 0.05 level of significance with df =3, the calculated chi- square value (65.490) is much greater than table value (5.991), therefore the null hypothesis i.e. *The proportion among number of researches done in different region is same*, has been rejected. The above statistical analysis shows that there is unequal number of researches done in different region submitted in FOE, BHU during the year 2010-2015.

❖ These entries for hypotheses (H06& H07) were based on method of research and research done in different region with four different categories. If we consider the above observed frequencies for method of research and research done in different regions and its subcategories was not same in proportion as the hypotheses were rejected. . From figure 3, it is clear that out of 110 theses only one was in historical based research 10 was experimental and rest were Descriptive in nature. 51 researches were organised for Locale of Varanasi 46 for/on other cites of India. Apart from these 10 researches were focused on other countries reference and only three were those researches which the investigator found not applicable category.

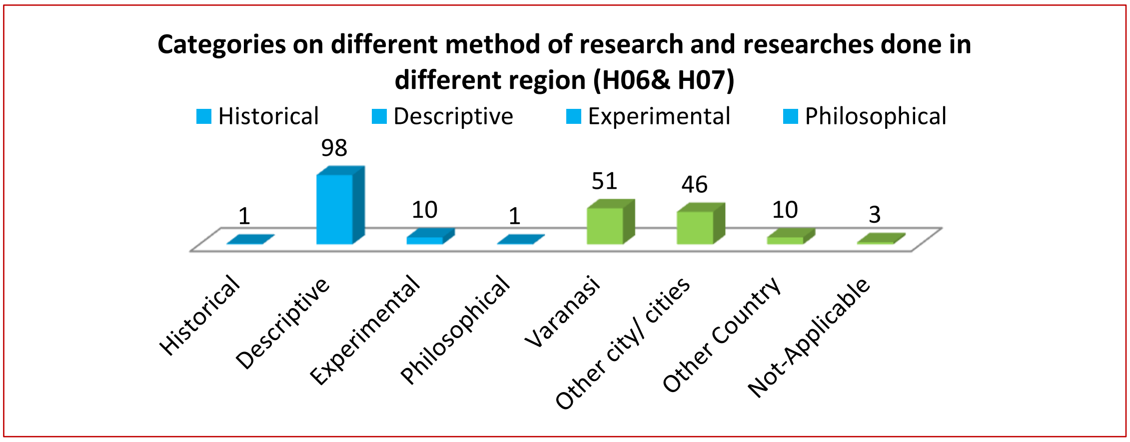

Figure 3 shows the methods of research and research done in different regions

$H_0$8: The proportion among number of researches done on different level of institution is same.

Table: 8 shows the proportion among number of researches done on different level of institution with chisquare

S.No.	Category	Fo	fe	chi-square	Table value	Result
1	Pre-school	0	11	68.18	16.919	Different proportion/Significant
2	Only Primary	14	11			
3	Only Middle	5	11			
4	Elementary	9	11			
5	Secondary	26	11			
6	Higher Secondary	26	11			
7	Higher Education	12	11			
8	Distance Education	3	11			
9	Teacher Education	3	11			
10	Others	12	11			
	Total	110				

At 0.05 level of significance with df=9, the calculated chi- square value (68.181) is greater than table value (16.919), therefore null hypothesis i.e. *The proportion among number of researches done on different level of institution is same,* has been rejected, therefore there is unequal number of researches done on different level of institution in FOE, BHU during the year 2010-2015.

- The entry for hypothesis (H08) was based on Researches done on different level of institutions and observed in 10 different sub categories. If we consider the above observed frequencies for Pre-school, Only Primary, Only Middle, Elementary, Secondary, Higher Secondary, Higher Education, Distance Education, Teacher Education, every category and its subcategory was not same in proportion as the hypothesis was rejected. From figure 3, it is clear that out of 110 theses, Secondary, Higher Secondary was 26 and this was more in all categories that were observed. While at pre-school level there was no any PhD thesis in faculty of education BHU from 2010-2015

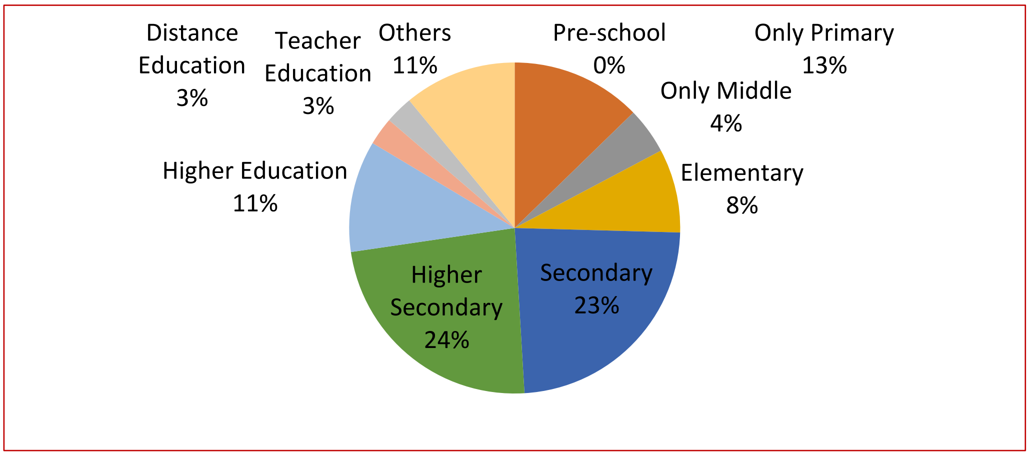

Figure 4 shows Pie-chart Researches done on different level of institutions (H08)

Result and Discussion: The researcher found that in FOE, BHU during the year 2010-2015, trend is going towards the applied type researches (95%) and descriptive researches (89%) are preferred followed by experimental researches (9%). Kumar (2015) also found the same trend in his dissertation with reference to type and method of researches. There is no significant difference between the number of male (58%) and female researchers (42%). Maximum number of theses submitted in 2014-2015 (55%) followed by 2012-2013 (24%) and 2010-2011 (21%). The researcher found that more researches are related to secondary (23%) and higher secondary (24%) level and there is no any research related to

pre- schooling. 11% researches are done related to others (i.e. policy, community, philosophy etc). 46% of researches are done in Varanasi region, 42% are in other city/cities and 9 % in other countries. In 18% researches unnecessary theory was written and in 91% of researches the rationale behind adopted statistical technique for data analysis, was not given.

Conclusion :- The investigator has discussed about the trend of PhD theses from 2010 to 2015 done in Faculty of Education of Banaras Hindu University, Varanasi on the basis of information collected from the self-made checklist which has four parts and 24 dimensions. Out of eight hypotheses on different areas and categories only one was failed to reject that was the distribution of researches on male and female. Means the trend is running in equal and satisfactory sense. The PhD theses were more focused on applied field of education, unnecessary theory was not used by the researcher in FOE BHU. From 2014-15 more researches were submitted and the trend of method for research is focused on descriptive method at local level Varanasi. All the observations indicated that rationale behind use of statistical techniques is leaving the trend of research means the researchers were not use rationale behind used statistics in research. And another trend of research in FOE BHU is going on with more focus on Higher education area of research. Thus this Trend analysis of researches gives us a clear picture of areas which were more focused and which were neglected or less focused for doing PhD in education at BHU from 2010-2015. This trend analysis will be helpful to identify the gaps and opportunities for future researches. This study will help the researcher, supervisors and administrators to understand the prevalence, quality and estimation of doctoral researches and will guide for future researches.

References:

1. Best, J.W., & Kahn, J.V. (1995). *Research in Education.* Prentice-Hall of India Private Limited: New Delhi.
2. Gupta, A.K., & Koul, A. (2007). Research Studies on Creativity in India since 1990 (A Trend Analysis). *INDIAN EDUCATIONAL REVIEW, 43,* 98-106. Retrieved from http://www.ncert.nic.in/html/pdf/Publication/Journal 2008/ IER/IERJanuary07/I ERjan07.pf
3. Karatas, S. (2008). Interaction in the Internet-based distance learning researches: results of a trend analysis. *TOJET: The Turkish Online Journal of Educational Technology, 7*(2), 11-19. Retrieved from http://www.tojet. net/ article s/v7i2/722.pdf
4. Kurup, A., & Arora, J. (2010). *Trends in Higher Education: Creation and Analysis of a Database of PhDs* (NIAS Report No. R1-2010).
5. Kumar, S. (2015). A Trend Analysis of Ph.D. theses completed till now in faculty of education of Banaras Hindu University, Varanasi, India.
6. Egmir, E., Erdem, C., & Kocyigit, M. (2017). Trends in Educational Research: A Content Analysis of the Studies Published in International Journal of Instruction. *International Journal of Instruction*, 10(3), 277-294.https://doi.org/10.12973/iji.2017.10318a
7. MHRD. (2018). *National Institutional Ranking Framework* (NIRF). Retrieved from https://www.nirfindia.org/univ.

चक्रपाणिविजयमहाकाव्यस्य अलङ्कृतिविमर्शः
(प्रथमदशसर्गाः)

डॉ. अनमोल शर्मा*

ध्वननसद्भावादेव काव्यता न कुत्रापि वाक्यादौ साधुतया अवतरति, गुणालङ्कारादिभिर्विशिष्टस्य शब्दार्थयुगलस्य ध्वननसत्येव काव्यतावतरति पुष्टिञ्च समनुश्नते। धाराधीशस्य भोजराजस्य सभापण्डितेन भट्टलक्ष्मीधरेण पुराणप्रसिद्धं श्रीकृष्णबाणासुरयुद्धवृत्तमुपजीव्यत्वेन परिशील्य चक्रपाणिविजयमहाकाव्यमकारि। आचार्यराधावल्लभत्रिपाठीवर्येण अस्य महाकाव्यस्य वैशिष्ट्यवर्णने कथितं महाकाव्यमिदं स्वसाहित्यवैभवेन न बृहत्त्रयीमहाकाव्येभ्यः कथमपि न्यूनम्। तथा "अपृथग्यत्ननिर्वत्या" अलङ्कारा अस्य लेखनन्यग्रेऽहमहमिकया परापतन्ति।[1] विविधैः शब्दार्थालङ्कारैः सुसमृद्धमिदं महाकाव्यं तदिदानीं किञ्चिन्निरूप्यते। तत्र यमकालङ्कारो यथा–

ईदग् दशा सम्प्रति मे खलायास्तादृक् च तस्याः श्लथमेखलायाः।
जातास्मि निष्पन्दमना दरेण विजृम्भते दैवमनादरेण।।[2]

अत्र पादान्तगो यमकः, उषानिमित्तं नायकमनिरुद्धमन्विष्यमाणायाः तत्सख्याः चित्रलेखाया भणितिरियं सम्प्रति मे (मम) खलायाः (अनिरुद्धानन्वेषणेन दुष्टायाः) ईदृग् दशा (शोचनीया) तथा तस्याः (उषायाः) श्लथा (शिथिला) मेखला (काञ्ची) यस्याः सा श्लथमेखला तस्या अपि तादृगवस्था। वियोगजन्यकृशाङ्गत्वात् सा श्लथमेखला अनिरुद्धमार्गणाभावात् अहं खला 'अतः' अत्र 'मे खलायाः' इत्यस्य पादान्तप्रयुक्तत्वात् पूर्वार्धे पादान्तयमकः। उत्तरार्धेऽपि 'दरेण' इत्यस्य पादान्तप्रयुक्तत्वात् पादान्तयमकः। तत्र प्रथमस्य दरेणेति पदस्य भयेन द्वितीयस्य दरेणेतिपदस्य अनादरेणेति पदांशेन सम्बन्धः। तथा– ***मनोजबाधा शमिता न तस्या मनोजवास्मीति वृथा प्रसिद्धिः।/ विनोदकं सा तमवीक्ष्य बाला विनोदकं शुष्यति पद्मिनीव।।***[3]

अत्र पादादियमकः, पूर्वार्धे 'मनोजबाधा' इत्यस्य पादादौ प्रयुक्तत्वात्। स्वसखिकान्तमनिरुद्धमप्राप्य चित्रलेखा ब्रूते 'तस्याः (उषायाः) मनोजबाधा (कामपीडा) न शमिता तथा अहं चित्रलेखा मनोजवा (शीघ्रगामिनी) मनसा जवो गमनवेगो यस्याः सा 'मनोजवा' अस्मीति प्रसिद्धिर्व्यर्था। यमकादौ बवयोरभेदात् 'मनोजबाधा' तथा 'मनोजवा' अत्र पादादियमकः। उत्तरार्धेऽपि विनोदकमिति पदस्य पादादौ प्रयुक्तत्वात् पादादियमकः। चित्रलेखा वक्ति 'सा बाला (उषा) विनोदकं (आनन्दप्रदं) तं नायकं (अनिरुद्धं) अवीक्ष्य (अदृष्ट्वा) उदकं (जलं) विना पद्मिनीव (कमलिनीव) शुष्यति'। तथा– ***धीरेव मूढा विफलं भ्रमामि धीरेवमूढा तु न यद्वयस्या।/ महाशया मत्कृतयैव नूनं महाशया तिष्ठति सा नतभ्रूः।।***[4]

अत्रापि पादादियमकः, चित्रलेखा अनिरुद्धमप्राप्य वदति धीरेव (बुद्धिरेव) मूढा (मोहिता) तादृशी अहं विफलं (व्यर्थं) पृथिव्यामत्र भ्रमामि तथा एवन्तु (व्यर्थभ्रमणेन नायकस्याप्राप्त्या) वयस्या (सखी) धीरा (गम्भीरा नायिका सा) ऊढा न भविष्यति, सा हि मत्कृतया (मत्प्रयुक्तया) महाशया (अत्यधिकविश्वासेन) महती चासौ आशा महत्याशा तया सा नतभ्रूः महाशया (आशान्विता) तिष्ठति महान् आशयः (अभिप्रायः) यस्या सा महाशया। तथैव– ***विभाव्य तदभावविदं भवानीं भवोऽपि शक्रं व्यसृजन् तदानीम्।/ स चामरैः सार्धमथ प्रतस्थे सचामरैरप्सरसां च संघैः।।***[5]

अत्रापि पश्चिमार्धे 'स चामरैः' तथा 'सचामरै' इत्यत्र पादादौ प्रयुक्तत्वात् पादादियमकः। यद्यपि दुष्करयमकादीनां प्रयोगो ध्वनिकारादिभिर्निषिद्धस्तथापि रससमाहितचेतसः कवेः स्वयमेत अलङ्कारा अहमहमिकया परापतन्ति। अस्मिन् महाकाव्ये दुष्करयमकादीनां सरलतया रसानुगुण्येन प्रयोगो विहितः। अनुप्रासस्तु महाकावेः सर्वपद्येषु प्रविष्ट इव, अतः कियदत्र लिखामः, तथापि प्रकृतशोधपत्रानुरोधेन किञ्चित् प्रस्तूयते– ***भग्नेषु सैन्येषु महाभटानां ये वैरिवीरोन्मुखपादपाताः।/ तानुत्तमाङ्गेन दधाति धात्री तैरेव यस्माद् ध्रियते धरित्री।।***[6]

---

* सहायकाचार्यः श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृत विश्वविद्यालयः, नई दिल्ली।

अत्र 'वैरिवीरोन्मुखपादपाता' इत्यत्र वरयोः स्वरूपतः क्रमतश्च सकृत्साम्यात् छेकानुप्रासः।[7] उत्तरार्धे च दन्त्यानां वर्णानां बाहुल्यात् श्रुत्यनुप्रासः।[8] तथा– ***कर्मैव दैवमित्याहु स्तस्मिन्नात्मनि संस्थिते। दैवसाध्यानि वस्तूनि सिद्धान्येव विवेद सः।।[9]*** ***अत्रापि दन्त्यवर्णानां भूयसत्वात् श्रुत्यनुप्रासः*** । / ***उद्गते परमानन्दस्यन्दिनीन्दाविवात्मनि।/ न विद्मः क्व तदा तस्य गतमिन्द्रियतस्करैः।।[10]***

अत्र पूर्वार्धे 'न्द' इति संयुक्तयो वर्णयोरसकृदावृत्त्या वृत्यनुप्रासः।[11] तथैव

किमन्यदात्मनो ज्ञातं किं व्याप्तं किं त्वया कृतम्। एवमेवासि सर्वज्ञः सर्वगः सर्वकारणम्।।[12]

अत्र सकारस्य असकृदावृत्त्या वृत्यनुप्रासः। तथा–

तमथ प्रमथानीकनायकोऽपि विनायकः। ववन्दे हरचित्तज्ञनन्दिप्रथमवन्दितम्।।[13]

अत्र पूर्वार्धे 'मथयोः' तथा 'नायकयोः', पश्चिमार्धे च 'न्द' इति संयुक्तयोः सकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः। तथैव–

मानसं मनसि चक्षुषि चक्षुः सङ्गमय्य मदनो मिथुनानाम्।
इच्छति क्षणमसङ्गतमङ्गं जैत्रमन्तरमिदं खलु तस्य।।[14]

पूर्वार्धेऽत्र 'मानसं मनसि चक्षुषि चक्षुः' इत्यत्र बहूनां व्यञ्जनानां सकृदावृत्त्या तथा उत्तरार्धे 'ङ्ग' इति संयुक्तयो वर्णयोश्च सकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः। इतोऽप्यधिकानां रसानुगुण्यानां शब्दालङ्काराणां गुम्फनमत्र महाकाव्ये विहितम्। सम्प्रति अर्थालङ्काराणां निरूपणं किञ्चित् क्रियते। तत्र उपमा यथा– ***तेजस्तस्य तदा क्षात्रमात्मन्येव लयं गतम्। भूयोऽभ्युदयकामस्य सायंतनरवेरिव।।[15]***

तपः काले बाणासुरस्य क्षात्रं तेजः तदात्मनि भूयोऽभ्युदयकामस्य सांयकालिकसूर्यस्येव लयं गतम्। प्रसङ्गानुगुणा पूर्णोपमात्र[16] विद्यते। तथा– ***तपः प्रविशता तेन रविणेव महार्णवम्।/ प्रियावक्त्राम्बुजवनं व्यावृत्त्यैव न वीक्षितम्।।[17]***

तपः प्रविशन् बाणः सागरं प्रविशन् रविरिव कान्तमुखकमलवनं परावृत्यापि न दृष्टवान्। सुमधुरा प्रसङ्गोचिता पूर्णोपमात्र वर्तते। तथा– ***दधत्तदाननं रेजे स्फाटिके कर्णकुण्डले।/गुरुभार्गवयोरन्तः सम्पूर्ण इव चन्द्रमा।।[18]***

तपः काले स्फटिकनिर्मितकुण्डयोर्मध्ये बाणस्य मुखं गुरुभार्गवयोर्मध्ये पूर्णेन्दुरिव शुशुभे। विलक्षणेयं पूर्णोपमा। तथा– ***परस्परभरन्यासमिश्रीभूतशरीरयोः।/सङ्गमः स तयोरासीद् गङ्गासागरयोरिव।।[19]***

उषानिरुद्धयोः सङ्गमं वर्णयन् महाकविः कथयति परस्परालिङ्गनेन एकीभूतशरीरयोः तयोः (उषानिरुद्धयोः) सङ्गमः एकीभूतयोः गङ्गसागरयोरिव अभूत्। मनोहारिणी प्रसङ्गोचितेयं पूर्णोपमा। इतोऽप्यधिकाः पूर्णोपमा लुप्तोपमाश्च महाकाव्येऽत्र प्रयुक्ताः। तथा– ***हरौ कुण्ठतरं तेन तेजनाय मनस्विना।/ प्रक्षिप्तमात्मसत्त्वास्त्रं तपस्तीव्रहुताशने।।[20]***

स्वबलवर्धनमिच्छुना बाणेन कुण्ठतरं स्वसत्त्वास्त्रं तीक्ष्णं कर्तुं तपोदीप्ताग्नौ हरौ प्रक्षिप्तम्। अत्र सत्त्वोपरि अस्त्रारोपः तपसि च हुताशनारोपात् रूपकालङ्कारः।[21] तथैव– ***ध्रुवं स तत्र स्थित एव बाणस्तीक्ष्णः सुराणां हृदये प्रविष्टः।/ अशक्यमुद्धर्तुमभूत्तदन्तः कुतोऽन्यथा शल्यमनन्यतुल्यम्।।[22]***

सुराणां हृदये प्रविष्टो बाणः तीक्ष्णो बाण एव आसीदिति निश्चितम्, कारणं तेषां सुराणां हृदयात् निष्कासयितुं विलक्षणमस्त्रं तत् (बाणास्त्रं) अशक्यमभूत्। अत्र बाणोपरि बाणस्य (शरस्य) आरोपात् रूपकम्। तथा– ***विहाय भवनं तेन वने विरचिता स्थितिः।/ प्रियाप्रिये कुतस्तस्य यस्य मानोन्नतं मनः।।[23]***

'तपः संलग्नेन तेन बाणेन वने स्थितिः कृता' इति विशेषस्य समर्थनाय 'यस्य मनः मानोन्नतं भवति तस्य प्रियाप्रिये न भवतः' इति सामान्यस्य न्यसनात् 'अर्थान्तरन्यासः'।[24] तथैव–

युक्तं यदज्ञ एवास्मि स्तौमि त्वां यदशङ्कितः।
ज्ञातारो हि न वक्तारस्त्वयि वाचामगोचरे।।[25]

तपसा प्रसन्नं शिवं बाणो ब्रवीति 'अज्ञोऽहं त्वां स्तौमीति समुचितमेव कारणं ये तव तत्त्वावगन्तारः ते न वक्तारः, तव तत्त्वस्य वाचामगोचरत्वात्'। अत्रापि विशेषस्य सामान्येन समर्थनात् अर्थान्तरन्यासः। तथा– ***यत्कल्पशाखी किल काष्ठभावं चिन्तामणिः प्रस्तरतां प्रपन्नः।/ अकल्पिताचिन्तितदानदीर्घं तन्नूनमस्यैव निशम्य नाम।।***[26]

दानवीरस्य बलेर्वर्णनं कुर्वन् भट्टलक्ष्मीधरो ब्रूते अस्यैव (बलेः) नाम निशम्य कल्पद्रुमः काष्ठतां चिन्तमणिश्च प्रस्तरतां प्रपन्नः कारणमयं कल्पनातीतं विचारातीतं च दानं करोति स्म। अस्य उपमेयस्य (बलेः) उपमानाभ्यां (कल्पद्रुमचिन्तामणिभ्यां) प्रकर्षवर्णनात् व्यतिरेकः।[27] तथा– ***भग्नेषु सैन्येषु महाभटानां ये वैरिवीरोन्मुखपादपाताः।/ तानुत्तमाङ्गेन दधाति धात्री तैरेव यस्माद् ध्रियते धरित्री।।***[28]

महावीराणां सेनासु पलायितासु ये शत्रुवीरोन्मुखाः तिष्ठन्ति तानेव धरित्री मस्तकेन धारयति कारणं तैरेव पुरुषैः पृथ्वी धार्यते। अत्र तुरीयपादस्य शेषपादत्रयस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गम्।[29] तथैव– ***दत्त्वा दृशं मण्डपरत्नभित्तौ मुधैव मुग्धे किमु विस्मयस्ते।/ इयं हि लोकत्रितयाभिरामा त्वमेव तन्वि प्रतिबिम्बितासि।।***[30]

उषायाः सखी तां ब्रूते "मण्डपस्य रत्ननिर्मितायां भित्तौ दृष्टिं निक्षिप्य वृथैव त्वं मुग्धे विस्मयं करोषि कारणं त्रिलोकसुन्दरी त्वमेवात्र भित्तौ प्रतिबिम्बितासि।" अत्र पूर्वार्धं प्रति पश्चिमार्धस्य कारणत्वात् काव्यलिङ्गम्। तथा– ***भग्ने बले वैरिबलोन्मुखस्य मही महासाहससानुरागा।/ व्याजात्तुरङ्गच्युतचामराणां पथि स्वकेशास्तरणं करोति।।***[31]

शत्रुसैन्यं प्रति उन्मुखस्य (शत्रुबलं हन्तुं प्रवृत्तस्य) राज्ञः शत्रूणां बले पालयिते सति महासाहसान् (बलिशालिनः) प्रति सानुरागा मही शत्रुतुरङ्गेभ्यः पलायनावसरे पतितचामराणां व्याजात् मार्गे स्वकीयानां केशानां शय्यां कल्पयति। अत्र 'महासाहससानुरागा' इतिपदस्य मही पथि स्वकेशास्तरणं करोतीति वाक्यस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गं तथा 'व्याजात्' इत्यनेन अपह्नुतिरपि[32] वर्तते। तथैव– ***कृपाणपातक्षतवारणेन्द्रकुम्भोत्थमुक्ताप्रकरच्छलेन।/ प्रदत्तपुष्पाञ्जलिपेशलेन येनार्चिताः सङ्गररङ्गदुर्गाः।।***[33]

बाणस्य पराक्रमं वर्णयन् महाकविर्ब्रूते "कृपाणस्य प्रहारेण हतानां गजेन्द्राणां मौक्तिकसमूहानां छलेन रणचण्डिका येन बाणेन प्रदत्तपुष्पाञ्जलिभिः समर्चिताः।" अत्रापि अपह्नुतिरलङ्कारः। तथैव– ***हृदि प्रतिष्ठापयितयोस्तदीये रतेरनङ्गस्य च यौवनेन।/ अकारि तुङ्गस्तनविभ्रमेण सौवर्णमुच्चैः सुरपद्मयुग्मम्।।***[34]

इत्यत्र यौवनेन तदीये हृदि (उषाचेतसि) रतेः कामदेवस्य च निवासाय तङ्गयोः स्तनयो विभ्रमेण स्वर्णनिर्मितं देवगृहद्वयमकारि। अत्रापि 'विभ्रम' इत्यनेन अपह्नुतिरलङ्कारो लब्धसत्ताकः। तथा– ***योगर्द्धिविषये तेन निपीतपवने वने।/ अचञ्चलतया तस्युः समाधिस्था इव द्रुमाः।।***[35]

उत्प्रेक्षां निरुपयन् महाकविरत्र ब्रूते 'समाधिप्रकर्षकाले बाणः किमपि अनश्नन् वायुमेव पिबन् वने तस्थौ तथा वने सम्पूर्णस्य वायोर्बाणेन पानकरणत्वात् निश्चला द्रुमाः (वायोरभावात्) समाधिस्था इव तस्थुः।' अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारो वर्तते।[36] तथा– ***स्तोतुमादिशति श्रद्धा जिह्वा नैवाध्यवस्यति।/इति वागीश्वर व्यग्रा वाचः कण्ठे लुठन्ति मे।।***[37]

तपोः प्रीतं शिवं बाणो ब्रवीति 'हे वागीश्वर ! मे श्रद्धा मां त्वां स्तोतुमादिशति परं जिह्वा त्वां स्तोतुं न प्रभवति, मे वाचः कण्ठ एव लुठन्ति। अत्र कारणभूतायाः श्रद्धायाः सत्त्वे स्तुतिरूपस्य कार्यस्य अभावात् विशेषोक्तिः'।[38] तथा– ***न वाचस्त्वां विना वाच्यं न च साक्षात्तयोच्यसे।/ तुला तुलयति स्वर्णं न तु स्वर्णधराधरम्।।***[39]

तपःप्रीतं शिवं बाणो ब्रूते 'त्वां विना न वाचो न वा वाच्यं त्वं साक्षात्तया वर्णयितुमयोग्यः, तुलायन्त्रं स्वर्णं तु मापयति परं स्वर्णपर्वतं नैव मापयति'। अत्र पूर्वार्धपश्चिमार्धयोः सम्बन्धोऽसम्भवन् उपमां प्रकल्पयतीति निदर्शनात्र।[40] तथा– ***कस्य वा नाथ सामर्थ्यं वाचा त्वद्गुणकीर्तने।/ केन वा लब्धमङ्गुल्या तारागणनगौरवम्।।***[41]

शिवं बाणो स्तौति 'नाथ वाण्या तव गुणानां कथने कस्य सामर्थ्यं ? अङ्गुल्या तारागणनस्य गौरवं केन लब्धम्'? अत्र अङ्गुल्या तारागणनमिव वाण्या तव गुणकीर्तनमसम्भवेति पर्यवस्यतीति सर्वेषां पदार्थानां बिम्बप्रतिबिम्बनात् दृष्टान्तः।[42] तथा– ***अन्येव सा श्रीरपरेव रेखा लावण्यमङ्गेषु तदन्यदेव।/ तत्कन्यकावस्तु कृतं किमन्यदन्येन मन्ये निपुणेन धात्रा।।***[43]

उषा अन्या श्रीरिव अन्या रेखेव तथा तल्लावण्यमन्यदेव आसीत्, अन्येन धात्रा सा कृता। अत्र इतरललनासामान्यस्य लावण्यस्य उषायां तुल्यत्वेऽपि विलक्षणतया वर्णनात् तथा 'अन्येन धात्रा सा रचिता' इति सम्बन्धेऽपि (प्रजापतेः) असम्बन्धवर्णनात् अतिशयोक्तिः।[44] तथा– ***जगाम वामेन तया करेण कण्डूयमानोऽपि कुरङ्गपोतः।/ प्रदक्षिणं दक्षिणकङ्कणस्थनीलाश्मरश्मौ कृतशष्पशङ्कः।।***[45]

मृगशावक उषया वामेन करेण प्रेम्णा कूण्डयमानोऽपि तस्याः दक्षिणमणिबन्धे विद्यमानस्य कङ्कणस्थस्य नीलमणेः प्रभायां जाततृणशङ्कः सन् दक्षिणपार्श्वं जगाम। अत्र मृगशावकस्य अतस्मिन् (अतृणे) तद्बुद्धे (तृणबुद्धेः) वर्णनात् भ्रान्तिमान्।[46]

तदित्थं बहवोऽत्र सहजोत्पन्नाः प्रसङ्गानुगुण्यभाजो रसादेरुत्कर्षकाः शब्दार्थालङ्कारा रमणीयेऽस्मिन् महाकाव्ये सहृदयाह्लदाकारकाः। मया प्रथमदशसर्गास्थानां केषाञ्चिदेव अलङ्काराणां प्रदर्शनमकारि, येन साहित्यशास्त्रे निबद्धमानसानां विदुषां शोधार्थिबुभूषानाञ्चात्र पठने शोधकरणे च प्रवृत्तिः साधीयसी स्यात्। अशेषैः काव्यशास्त्रप्रमेयैः पूरितमिदं महाकवेर्भट्टलक्ष्मीधरस्य चक्रपाणिविजयमहाकाव्यम्, तच्च लोके प्रसरत्विति भगवन्तं चक्रपाणिं प्रार्थये।

संदर्भ–सूची :–

1. सामाशंसा, चक्रपाणिविजयमहाकाव्यम्, प्रतिभा प्रकाशनम् देहली।
2. 8/8 च.वि.म.।
3. 9/8 तत्रैव।
4. 10/8 तत्रैव।
5. 36/4 तत्रैव।
6. 61/1 तत्रैव।
7. छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा। 3/10 सा.द.।
8. उच्चार्यत्वाद् यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।/सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।। 5/10 सा.द.।
9. 1/2 च.वि.म।
10. 20/2 तत्रैव
11. अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वास्यनेकधा।/ एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते।। 4/10 सा.द.।
12. 34/2 च.वि.म।
13. 64/2 तत्रैव।
14. 66/9 तत्रैव।
15. 7/2 तत्रैव।
16. सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद् वाच्यम्।। 17/10 सा.द.।
17. 10/2 च.वि.म।
18. 15/2 तत्रैव।
19. 75/10 तत्रैव।
20. 2/2 तत्रैव।
21. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमानयोः 93/10 का.प्र.।
22. 2/3 तत्रैव।
23. 12/2 तत्रैव।
24. विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यासः। 334/6 काव्यानुशासनम्।
25. 26/2 तत्रैव।
26. 20/1 तत्रैव।
27. उत्कर्षापकर्षहेत्वोः साम्यस्य चोक्तावनुक्तौ।/ चोपमेयस्याधिक्यं व्यतिरेकः। 332 पृ./6 काव्यानुशासनम्।
28. 61/1 तत्रैव।
29. काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता 170/10 का.प्र.।
30. 5/4 तत्रैव।
31. 62/1 तत्रैव।
32. प्रकृताप्रकृताभ्यां प्रकृतापलापोऽपह्नुतिः। 337पृ./6 काव्यानुशासनम्।
33. 4/3 तत्रैव।
34. 30/3 तत्रैव।
35. 18/2 तत्रैव।
36. भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। 41/10 सा.द.।
37. 25/2 तत्रैव।
38. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। 108/10 सा.द.।
39. 28/2 तत्रैव।
40. अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः, निदर्शना। 97/10 का.प्र.।
41. 42/2 तत्रैव।
42. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्। 102/10 का.प्र.।
43. 21/3 तत्रैव।
44. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्। मन्यतेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा। 81/2 काव्यालङ्कारः (भामहः)।
45. 56/3 तत्रैव।
46. भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने। 132/10 का.प्र.।

৯★৫

पत्रिका में शोध-लेख प्रकाशन की अनिवार्य शर्तें

1. आपके द्वारा प्रेषित शोध–लेख मौलिक, स्तरीय, प्रकाशन के योग्य एवं अप्रकाशित हो, तथा आपके द्वारा **आलोचन दृष्टि** द्वारा जारी किया गया **लेखक का घोषणा–पत्र** फार्म अवश्य भरा होना चाहिए।
2. अपने शोध–लेख (हिन्दी व संस्कृत के Kruti Dev 10 में और अंग्रेजी के Times New Roman Font में) की वर्ड एवं पी.डी. एफ. फाइल बनाकर सी.डी. या डी.वी.डी. में हार्ड कॉपी के साथ **आलोचन दृष्टि, कार्यालय** के पते में प्रेषित करें। आपको यदि अपने शोध–लेख का **स्वीकृत पत्र** चाहिए तो एक लिफाफे में अपना नाम, पता पिन कोड सहित लिखकर, आवश्यक स्पीड पोस्ट की डाक टिकट लगाकर भेजें और 3–4 महीने तक अनावश्यक कोई कॉल किसी भी **आलोचन दृष्टि** के प्राधिकारी से न करें। यदि किसी पदाधिकारी से बात करने की जरूरत पड़े तो शाम 6.00–8.00 के बीच संपर्क करें।
3. **शोध–लेख/आलेख में मोबाइल नंबर, ई–मेल एवं पता अंकित होना चाहिए।**
4. शोध–लेख/आलेख की जांच **संपादक मंडल** एवं **आलोचन–दृष्टि–परिवार** के द्वारा की जाएगी उसके उपरांत ही शोध–लेखों/आलेखों को प्रकाशित किया जायेगा, जिसमें **संपादक मंडल** का **निर्णय** अंतिम और सर्वमान्य रहेगा।
5. शोध लेख **यूजीसी** के मानक के अनुरूप होने चाहिए और **संदर्भ–सूची** में पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशन का नाम, संस्करण–वर्ष एवं पृष्ठ संख्या तथा पत्रिका के संदर्भ हेतु, उसका अंक, वर्ष, पृष्ठ संख्या आदि– निश्चित रूप से अंकित होने चाहिए। ऐसा न होने पर लेख की **संदर्भ–सूची** को भ्रामक माना जाएगा।
6. पत्रिका के प्रकाशन हेतु लेखकों, पाठकों एवं आलोचकों से सदस्यता भी अपेक्षित रह सकती है, क्योंकि पत्रिका को कोई अनुदान या अंशदान नहीं प्राप्त हो रहा।
7. पत्रिका में सर्वेक्षणात्मक की अपेक्षा वैचारिक शोध–लेखों/आलेखों को वरीयता प्रदान की जायेगी।

Essential conditions for publication of research articles in the journal

1. The research article sent by you should be original, quality, worthy of publication and unpublished, and the **Author's Declaration Form** issued by **Aalochan Drishti** must be filled.
2. To send CD or DVD of your research articles Word & PDF File, with hard copy (Hindi & Sanskrit in **Kruti Dev 10 Font** and English in **Times New Roman Font**) at the address of **Aalochan Drishti**. If you want the Acceptation Letter of your dissertation/article, then write your name, address with pin code in an envelope, to affixing required speed post postage stamp and No unnecessary call for 3-4 months from any officer/ Member of Aalochan Drshiti. If there is a need to talk to any Officer/Member, then contact between 6.00-8.00 in the evening.
3. Mobile number, e-mail and address should be mentioned in the research paper/article.
4. The research-articles will be examined by the **Editorial Board** and **Aalochan Drishti -Family**, only after that the research articles/articles will be published, in which the decision of the **Editorial Board** will be final and binding.
5. Research articles should be as per **UGC standard** and in the **Bibliography** the name of the book, the name of the author, the name of the publication, the edition-year and page number and for the reference of the journal, its issue, year, page number etc.- fixed must be clearly marked. Otherwise, the **Bibliography** of the article will be considered misleading.
6. Subscription may also be required from writers, readers and critics for the publication of the magazine, because the magazine is not receiving any grant or contribution.
7. Preference will be given to conceptual research articles/articles in the journal rather than survey.

आलोचन दृष्टि

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,
उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com